इन्द्र विद्यावाचस्पति

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ — रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे है। इसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन-कला का सम्भवत: सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख।

नागार्जुनकोण्डा, दूसरी सदी ईसवी
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता

इन्द्र विद्यावाचस्पति

विजयेन्द्र स्नातक

साहित्य अकादेमी

Indra Vidyavachaspati : A monograph in Hindi by Vijayendra Snatak on the modern Hindi author. Sahitya Akademi, New Delhi (1993), Rs. 15.

प्रथम संस्करण : 1993

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय
रवीन्द्र भवन, 35, फ़ीरोज़शाह मार्ग, नयी दिल्ली 110 001
विक्रय विभाग : स्वाति, मन्दिर मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय
जीवनतारा बिल्डिंग, चौथी मंज़िल, 23 ए/44 एक्स,
डायमंड हार्बर रोड, कलकत्ता 700 053
304-305, अन्ना सालई, तेनामपेट, मद्रास 600 018
172, मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय मार्ग, दादर, बम्बई 400 014
एडीए रंगमन्दिर, 109, जे. सी. मार्ग, बंगलौर 560 002

मूल्य : पन्द्रह रुपये

ISBN 81-7201-505-4

टाइपसेटिंग : राजधानी कम्प्यूटोनिक्स प्रा. लि., दिल्ली 110 007
मुद्रक : सुपर प्रिंटर्स, दिल्ली 110 051

दो शब्द

पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में राष्ट्र और राष्ट्रीयता के मंच पर अवतरित होकर पूर्ण उत्सर्ग के साथ कार्य करनेवाले व्यक्तियों की पहली पंक्ति में थे। हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में तो उनका नाम सदैव अमिट अक्षरों में अंकित रहेगा ही ; उर्दू के गढ़, दिल्ली में वे हिन्दी पत्रकारिता के जनक थे और अपने प्रारम्भिक दैनिक तथा साप्ताहिक पत्रों के माध्यम से उन्होंने उत्तर भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्रपात भी किया था। पंडित जी की ख्याति एक सफल पत्रकार के रूप में होने से उनकी साहित्यिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक तथा धार्मिक रचनाओं तथा क्रिया–कलापों की ओर जनता का ध्यान नहीं गया। पंडित जी ने अपने जीवन में लगभग पचास पुस्तकों की रचना की जिनमें अनेक प्रकार के ग्रंथ शामिल हैं। इतिहास, भारतीय संस्कृति, राजनीति, जीवनी, संस्मरण, धर्म, दर्शन, उपन्यास, संस्कृत-काव्य आदि विविध विधाओं में ग्रंथ रचना करके पंडित जी ने जो साहित्य सेवा की है उसका अद्यावधि उचित मूल्यांकन नहीं हुआ है।

पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति का कार्यक्षेत्र भी व्यापक और बहुआयामी था। शिक्षा, संस्कृति, धर्म, समाज-सुधार, राजनीति, पत्रकारिता तथा राष्ट्रीय अस्मिता के क्षेत्र में किये गए उनके विविध कार्यों का संतुलित रूप से लेखा-जोखा प्रस्तुत करने का प्रयास इस पुस्तिका में किया गया है। आशा है, इसको पढ़कर इन्द्र जी के योगदान का चित्र समवेत रूप से पाठकों के सामने आ सकेगा।

— विजयेन्द्र स्नातक

विषय-क्रम

पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति : संक्षिप्त जीवन परिचय

श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति का जन्म भारतवर्ष के नवजागरण या पुनर्जागरण युग में जालंधर शहर में ९ नवम्बर, १८८९ को एक प्रतिष्ठित तथा समृद्ध परिवार में हुआ था, इनके पिता मुंशीराम जी एक सुप्रसिद्ध वकील थे। उनका परिवार वैभवशाली था और वकालत के द्वारा उन्होंने यश और धन अर्जित किया था। आर्य समाज की स्थापना हो गई थी और आर्य समाज पंजाब में नई शक्ति के रूप में उदित होकर सामाजिक जागरण का केन्द्र बन रहा था। बालक इन्द्र ने घर और बाहर के बदलते हुए समाज को देखा था। अपने पिता और मामाओं के निकट सम्पर्क में रहते हुए तत्कालीन परिस्थितियों का जीवंत परिचय प्राप्त किया था। शैशवावस्था में ही उनके मन में आस्तिक भाव के साथ नैतिक चेतना का उदय हो गया था। उनके पिता लाला मुंशीराम जी तभी महात्मा मुंशीराम के नाम से जनता में प्रसिद्ध हो गये थे। उनके दो पुत्र और दो पुत्री थीं। इन्द्र जी के बड़े भाई हरिश्चन्द्र गुरूकुल कांगड़ी से स्नातक होकर प्रथम महायुद्ध के समय विदेश चले गये थे और वहॉ से वापस नहीं लौटे।

इन्द्र जी जब दो वर्ष के थे तभी उनकी माता जी का देहान्त हो गया था। इनकी माता का नाम शिवदेवी था। जब माता का देहान्त हुआ तब चारों भाई-बहन शैशवावस्था में थे। सबसे बड़ी बहन वेदकुमारी ८ वर्ष की थी। दूसरी बहन हेमकुमारी ६ वर्ष की और हरिश्चन्द्र ४ वर्ष के थे। इन्द्र जी सबसे छोटे और २ वर्ष के थे। शरीर से दुर्बल और रोगी होने के कारण इनका लालन-पालन का दायित्व उनके तायाजी ने वहन किया। ताई जी की अपनी कोई सन्तान नहीं थी उन्होंने पूरे मातृभाव से चारों बच्चों को अपनी गोद में ले लिया और बच्चों के लालन-पालन में नाना प्रकार के कष्ट उठाते हुए भी उन्होंने अपने वात्सल्य भाव को कभी क्षीण नहीं होने दिया।

इन्द्र जी के पूर्वज जालंधर से लगभग २० मील की दूरी पर स्थित तलवन नामक ग्राम के निवासी थे। उनके दादाजी ने उत्तर प्रदेश में पुलिस अधीक्षक की नौकरी से पेन्शन प्राप्त करके तलवन में अपना मकान बनाया था। इन्द्र जी की दो बड़ी बहनों और भाई का जन्म इसी ग्राम में हुआ था। किन्तु जब इनके पिता लाला मुंशीराम ने जालंधर में वकालत करना प्रारम्भ किया तब समस्त परिवार जालंधर आ गया और कचहरी के पास किराये का मकान लेकर रहने लगा। इन्द्र जी का जन्म इसी कचहरी के पास वाले किराये के मकान में हुआ था। इन्द्र जी के पिता ने वकालत के पेशे

द्वारा बहुत धन अर्जित किया था। इन्द्र जी के पिता ने जालंधर में ही कोठी बनाने का निश्चय किया और कोठी बनाने की योजना तैयार की। कोठी बहुत विशाल थी और उसका आकार तथा रूप वैसा ही था जैसा कि रियासतों के महलों का होता है। कोठी का पूरा नक्शा किले के ढंग का बनाया गया था। सड़क की ओर जो दीवार थी उसके दोनों ओर कोने की ओर गोलाई लिए बुर्ज थे। दीवार के मध्य में बड़ा फाटक, फाटक के दांयी ओर अस्तबल और दो गाड़ी थी, दो घोड़े, और दो गाय रहती थीं। एक बन्द गाड़ी थी जो उस समय का फैशन थी। बन्दगाड़ी परिवार के काम आती थी। फाटक के दूसरी ओर सत्धर्म प्रचारक प्रेस और समाचार पत्र का कार्यालय था। प्रारंभ में सत्धर्म प्रचारक पत्र उर्दू में निकलता था उसके अग्रलेख धर्मोपदेश आदि लाला मुन्शीराम जी स्वयं लिखा करते थे, फाटक के अन्दर एक छोटी सी बहुत सुन्दर वाटिका थी उस वाटिका में शौक की सभी चीजें मौजूद थी। घास के मैदान, फलों के पेड़, फुलवारी थी। और उसके चारों तरफ तीन बड़े-बड़े कमरे थे और कमरों की सजावट बहुत ही सुन्दर की गई थी। हवेली का यह नक्शा उस समय के किसी बहुत समझदार वास्तुकार ने तैयार किया था। बाद में इन्द्र जी के पिता ने (स्वामी श्रद्धानन्द) ने यह कोठी गुरूकुल कांगड़ी को दान दे दी।

जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट किया गया है इनके पितामह लाला नानकचंद जी उत्तर प्रदेश में पुलिस के बड़े अफसर, नौकरी से रिटायर्ड होकर अपने ग्राम तलवन में आकर रहने लगे थे। उनके साथ ही उनके परिवार के अन्य सदस्य भी तलवन में आकर बस गये थे। लाला नानकचंद की मृत्यु के बाद जमीन जायदाद का चारों भाइयों में बंटवारा हुआ और सबसे छोटे-भाई मुंशीराम को ही बंटवारें का निर्णायक बनाया गया।

इन्द्र जी के भाई-बहन अपने शैशव में तलवन को अपने वंशजों का तीर्थ स्थान मानकर तीर्थ यात्रा की तरह जाया करते थे। जब कभी वे गाँव जाते बच्चों को अंधविश्वास और पाखंड की बातों से दूर रहने का उपदेश दिया करते थे। उन उपदेशों का प्रायः उनके मन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा और वे विलासिता के जीवन से अपने आप दूर होते चले गये। इनके पिता लाला मुंशीराम जी ने आर्य समाज के प्रभाव में आने के बाद अनेक प्रकार के संकल्प किये और उन संकल्पों का सीधा सम्बन्ध जनजागरण अथवा समाज सुधार से था। आर्य समाज के बढ़ते हुए प्रभाव से उनके मन में भी प्राचीन शिक्षा पद्धति के प्रति आकर्षण पैदा हो गया था और इस प्राचीन शिक्षा पद्धति के स्वप्न को चरितार्थ करने के लिए मुंशीराम जी ने बहुत पहले गुज़रांवाला में दो मंजिली एक कोठी किराये पर लेकर गुरूकुल की स्थापना कर दी थी। बालक इन्द्र का गुरूकुलीय जीवन इसी कोठी में ही प्रारंभ हुआ था। मुंशीराम जी ने गुजरांवाला में गुरूकुल तो खोल दिया किन्तु उनके मन में शहरी माहौल के कारण संतोष न था

अतः उन्होंने एक दिन यह संकल्प किया कि मैं ३० हजार रूपये इक्ट्ठे करके एक शांत स्निग्ध वातावरण में नये गुरूकुलीय शिक्षा संस्थान की स्थापना करूंगा। धन संचय में तो कुछ समय लगा किन्तु सौभाग्य से उन्हें बिजनौर निवासी मुंशी अमन सिंह ने गंगा के किनारे हरिद्वार के समीप, कांगड़ी नामक ग्राम को भेंट कर दिया। यह कांगड़ी नामक ग्राम ही विश्वविख्यात शिक्षा स्थली के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

वह कांगड़ी नामक स्थान जहाँ मुंशीराम जी ने गुरूकुल की प्रथम स्थापना की थी वह चारों तरफ से जंगल से घिरा हुआ था। उस स्थान का वर्णन करते हुए इन्द्र जी ने लिखा है, "हमारे रहने का स्थान खैर पेड़ और बेरी के घने जंगलों से घिरा हुआ था, कहीं कहीं बेल के पेड़ थे। इन पेड़ों की बहुतायत के कारण वह जंगल वस्तुतः कंटकाकीर्ण शब्द का अधिकारी था। नीचे कांटे और ऊपर कांटे, चारों तरफ कांटे। स्नान के लिए सिर्फ गंगा की धारा थी। क्रीड़ा क्षेत्र का आनंद गंगा की बालू में लिया जाता था। ऐसी दुनिया में रहते हुए हम सब सर्वथा अपने कार्य से प्रतिबद्ध थे। कांगड़ी में रहने के पश्चात ५ वर्ष तक ब्रह्मचारियों ने गंगा का पुल पार करके कनखल में भी पांव नहीं रखा था।"

इन्द्र जी के पिता ने कभी अपने पुत्र को बैरिस्टर बनाने का स्वप्न देखा था किन्तु पुत्र के मन में बैरिस्टर बनने के प्रति कोई उत्साह नहीं था। अपने शैशव से ही उसके मन में सुधारक और चिन्तक की मनोभूमि बनती जा रही थी। वे समझते थे कि बैरिस्टर बनकर राष्ट्रसेवा का अवसर हाथ से निकल जाएगा। अपने जीवन को सफल बनाने के लिए आवश्यक है कि मानव सेवा को प्रथम कर्तव्य समझा जाये तथा तदनुसार आचरण भी किया जाये। यह सब मानसिक, सामाजिक, नैतिक और राष्ट्रीय स्वाधीनता के बिना असंभव है। अतः बैरिस्टर बनने से राष्ट्र सेवा के पुनीत कार्य में बाधा पड़ेगी। छात्र जीवन में ही इन्द्र जी का यह विचार हो गया था, "दासों का धर्म कभी नहीं फलता-फूलता" अतः आर्य समाज को स्वाधीनता प्राप्ति के कार्य में योगदान करना चाहिये। इन्द्र जी के एक मामा प्रख्यात बैरिस्टर थे किन्तु इन्द्र जी के मन में कभी अपने मामा के समान बैरिस्टर बनकर धनोपार्जन की इच्छा पैदा नहीं हुई; वस्तुतः इन्द्र जी का जीवन शैशव से ही राष्ट्र के प्रति समर्पित जीवन था। छात्र जीवन में ही उन्होंने राष्ट्र भक्ति का एक गीत लिखा था :

हे मातृभूमि तेरे चरणों में सिर नवाऊं,
मैं भक्ति भेंट अपनी तेरी शरण में लाऊँ,
तेरे ही काम आऊं तेरा ही मन्त्र गाऊं,
मन और देह तुझ पर बलिदान मैं चढ़ाऊं ॥

छात्र जीवन से ही राष्ट्र गौरव और राष्ट्रभक्ति को अपने लक्ष्य बना लेने पर इन्द्र जी को किसी एक पंथ या मत की संकीर्णता में रहना उचित नहीं लगता था। उनकी विचारधारा में उच्चस्तरीय उदारता और विराटता का समावेश हो गया था। राष्ट्र सेवा के धरातल पर उनका दृष्टिकोण व्यापक होने के साथ सर्वोदय तथा सब के सुख की कामना से ओत-प्रोत होकर बुद्धिवादी बन गया था। वे राजनीति को भी राष्ट्र के संदर्भ में उपयोगी मानते थे, उनके मत में आर्य समाज ने राजनीति को छोड़कर समय के पीछे डाल दिया है। आर्य समाज संसार का उपकार करना चाहता है तो उसे राजनीति को भी स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार के स्पष्ट विचार उन्होंने आज से लगभग ६० वर्ष पूर्व व्यक्त किये थे। पंडित इन्द्र जी ने अपने छात्र जीवन से ही राष्ट्रसेवा को अपना प्रथम कर्त्तव्य मान लिया और राजनीतिक विचारधारा के लिए तिलक जी को गुरू रूप में स्वीकार कर लिया था।

उस समय भारत के राजनीतिक क्षितिज पर महात्मा गाँधी का उदय नहीं हुआ था। कालान्तर में जब उन्होंने असहयोग आन्दोलन का संचालन किया तब इन्द्र जी पर भी उसका प्रभाव पड़ा और उन्होंने कांग्रेस के सक्रिय सदस्य होकर कांग्रेस के लिए काम किया। कांग्रेस के सदस्य हो जाने पर उन्होंने अपने समाचार पत्रों द्वारा ब्रिटिश शासन का विरोध किया और कांग्रेस का समर्थन प्रारंभ कर दिया। कांग्रेस का विशेष अधिवेशन दिल्ली में मौलाना आजाद की अध्यक्षता में हुआ। पंडित इन्द्र जी उस सम्मेलन में मंत्री के रूप में कार्य कर रहे थे। उसके बाद से वे निरन्तर कांग्रेस के नेता के रूप में कार्य करते रहे। अपने राजनीतिक जीवन में उन्हें कई बार विरोध के झंझावत भी सहने पड़े किन्तु वे कभी भी अपने पथ से डिगे नहीं, चट्टान की तरह अटल बने रहे। एक बार तो उन्हें अपने पिता स्वामी श्रद्धानंद के विरोध में भी कार्य करना पड़ा। यह प्रसंग केन्द्रीय असेम्बली के उम्मीदवारों के समर्थन का था। कांग्रेस पार्टी की ओर से शिवप्रसाद जी को उम्मीदवार बनाया गया था और स्वामी श्रद्धानंद घनश्याम दास बिड़ला का पक्ष लेकर कार्य कर रहे थे। इतना ही नहीं लाला लाजपतराय और अपने पिता स्वामी श्रद्धानंद के अनुरोध को अस्वीकार करते हुए उन्होंने लाला जी से स्पष्ट शब्दों में कहा "मैं अपनी आत्मा की आवाज के अनुसार काम करता हूँ अतः मैं यह उचित समझता हूँ कि राजनीतिक चुनाव में कांग्रेस का समर्थन करना प्रत्येक भारतवासी का कर्तव्य है।" इन्द्र जी के चरित्र की दृढ़ता को प्रदर्शित करने वाली यह घटना उनकी निर्भीकता, स्पष्टवादिता, साहस और न्याय-निष्ठा आदि गुणों को उजागर करती है।

इन्द्र जी की तितिक्षा और जिजीविषा

जैसा कि मैंने पहले कहा है कि पं. इन्द्र को शरीर-यष्टि तो अपने पिता के अनुरूप मिली थी किन्तु बचपन से ही खांसी-बुखार ने इन्द्र को रोगी बना दिया था।

तीन बार निमोनिया का प्रकोप हुआ। किशोरावस्था में प्लूरिसी रोग ने उनके फेफड़े को जर्जर कर दिया और आजीवन एक फेफड़े से जीवन-यात्रा पूरी करने पर बाध्य किया। किन्तु पंडित जी ने एक क्षण को भी निराश और संत्रस्त होकर दैन्य और कार्पण्य का परिचय नहीं दिया। अपनी पहली पत्नी विद्या के निधन के बाद अपनी संतति के पालन-पोषण के लिए विवाह करना और जीवन-साथी खोजना गृहस्थ धर्म समझा। चन्द्रवती जैसी पतिपरायण साध्वी पत्नी पाकर जीवन की सूनी राह को सुखी बनाया और अपनी संतति को सब प्रकार योग्य बनाने में पत्नी का सहयोग प्राप्त किया।

रोगों से लड़ना-जूझना तो उनके नित्य कर्म में शामिल हो गया था किन्तु जीवन की संध्या वेला में घर के चिकने फर्श पर आपका पैर फिसल गया ; हिप बोन टूट गई। हिप बोन को ठीक करने की क्रिया अत्यन्त वेदनापूर्ण होती है। टूटी हड्डी में छेद करके गरारी डलवाना अत्यन्त कष्टप्रद होता है। इन्द्र जी ने चेतनावस्था में यह क्रिया पूरी की और मुख से आह तक नहीं निकाली। डाक्टर विस्मयविमुग्ध होकर पंडित जी को देखते रह गये। इस दुर्दिन के समय ही दिल्ली में संस्कृति सम्मेलन हुआ जिसके स्वागताध्यक्ष पंडित इन्द्र जी थे। इन्द्र जी स्ट्रेचर पर लेटे हुए सम्मेलन में पहुँचे और स्वागत भाषण दिया। डा. भगवान दास इस सम्मेलन के सभापति थे और पंडित इन्द्र जी की हिम्मत और आत्मबल की भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे थे।

पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति के जीवन में एक विचित्र विशेषता यह भी मिलती है कि एक ओर उन्होंने मानव सेवा को ही प्रमुख स्थान दिया है तो दूसरी ओर पितृभक्त होने के कारण अपने पिता की आज्ञा का पालन करना भी अपना कर्तव्य समझा है। अपने पिता के कठोर नियंत्रण में रहते हुए भी उनके विचार स्वातंत्र्य में बाधा नहीं रही। उनके पिता ने भी कभी उन्हें स्वयं के विचारों का त्याग करने की प्रेरणा नहीं दी। एक बार जीवनकाल में हिन्दू महासभा का सदस्य बनने के सम्बन्ध में कुछ संदेह हुआ और उन्होंने स्वामी श्रद्धानंद जी से कहा "मैं हिन्दू महासभा के विधान और उनके विधि से पूर्ण सहमत नहीं हूँ कुछ विरोध भी है, किन्तु मैं आपका विरोध भी नहीं चाहता, आपकी आज्ञा का पालन करना मैं अपना परम धर्म मानता हूँ और आप जो भी कहेंगे मैं वैसा ही करूंगा।" इन्द्र जी के इस कथन पर स्वामी जी ने कहा मेरी आज्ञा का पालन करना इतना बड़ा धर्म नहीं है। पहला धर्म है अपने अन्तःकरण का पालन करना। अन्तःकरण की आवाज सुनो और उसकी बात मानो, वैसा ही आचरण करो, यही पहला धर्म है।

साहित्य सेवा और पत्रकारिता

साहित्य सेवा में रुचि : पत्रकारिता

पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति का साहित्यिक जीवन सन् १९१० से प्रारंभ होता है उन दिनों गुरूकुल से सद्धर्म शीर्षक से एक पत्र निकला करता था। इस पत्र के संपादक तो महात्मा मुंशी राम ही थे। गुरूकुल के कार्यवश बाहर रहने के कारण उसके संपादन का भार प्रायः इन्द्र जी पर ही रहता था। इन्होंने सद्धर्म प्रचारक पत्र के माध्यम से अपनी पत्रकारिता की रूचि को और बढ़ाया। फलतः इन्होंने और इनके भाई हरिश्चन्द्र ने मिलकर एक हस्तलिखित पत्र भी निकाला। इस पत्र का नाम रखा गया 'सत्यप्रकाश'। इस हस्तलिखित पत्र के विषय में इन्द्र जी ने लिखा है "हमारे सह उद्योग से निकलने वाले उस हस्तलिखित पत्र पर सद्धर्म प्रचारक और सरस्वती दोनों की छाप थी। हम दोनों इसके लेखक तथा प्रचारक थे और दोनों ही पाठक। तीसरा कोई व्यक्ति हमारा सहायक नहीं था। जब कभी अवसर मिलता तो प्रेस से कुछ कोरे कागज़ उड़ा लेते और विद्यालय से बचे समय में लेख आदि लिखते।" यही उनकी पत्रकारिता की साहित्यिक पृष्ठभूमि है।

जब सद्धर्म प्रचारक के संपादन कार्य में व्यस्त थे तब की एक घटना का उल्लेख उन्होंने अपनी पुस्तक में किया है - "किसी लेख के प्रूफ़ संशोधन में अशुद्धि रह जाने के कारण इन्द्र जी पर जो प्रतिक्रिया हुई उसके आधार पर उन्होंने अपने सम्बन्ध में निम्नलिखित निर्णय किया (क) लेख स्पष्ट अक्षरों में लिखूंगा (ख) लेख को स्वयं शोध लिया करूंगा (ग) अंग्रेज़ी के अक्षरों को कभी नहीं लिखूंगा (घ) लेख सरल भाषा में लिखा करूंगा। इस तथ्य का उल्लेख उन्होंने अपनी डायरी के पृष्ठों में भी किया है। "पंडित शिवशंकर जी के लिखे ग्रन्थों को पढ़कर मेरे मन में न जाने क्यों विद्रोह का भाव पैदा हुआ। उस समय मैं तेरहवीं कक्षा में पढ़ता था। एक दिन मन में जोश आया तो काव्यतीर्थ जी के ग्रन्थों की आलोचना में एक लेख लिखा। यद्यपि कोई दूसरा कारण नहीं था। उस लेख में काव्यतीर्थ जी के संबंध में व्यंग्यों और तीखे उपहासों का प्रयोग किया गया था। पर संभवतः उस समय के हिन्दी आलोचनाकारों का अपने लेखक हृदय पर भी असर हुआ। उस लेख में तीव्रता के साथ रोचकता भी आई। लेख लिखकर मैं सम्पादक के पास पहुँचा और निवेदन किया कि आप इस लेख को सद्धर्म प्रचारक में प्रकाशित करवा दीजिए। वे दुविधा में पड़ गये। लेख तो

प्रशंसनीय था, पर छापे कैसे। गुरूकुल के एक छात्र का लिखा लेख, वह भी एक अध्यापक के ग्रन्थों की आलोचना के लिए। संपादक जी को लेख पसंद आ गया था अतः परामर्श के बाद निश्चय किया गया कि लेख के साथ उनका नाम नहीं रहेगा। साथ ही यह भी निश्चय हुआ कि यह बात सर्वथा गुप्त रखी जाएगी कि यह लेख किसका है। प्रेस वालों को सावधान कर दिया जाए कि वे रहस्योद्‌घाटन नहीं होने देंगे। मैंने अपना उपनाम उस लेख के लिए 'था' रखा। सभी लोगों ने 'था' के लिए अलग-अलग कल्पनायें की। आर्य समाज में भी ऐसे विद्वान तो थे जो सर्वथा कट्टरपंथी होने के कारण उस लेख के लिए लेखक समझे जा सकते थे परन्तु वे संस्कृत के विद्वान थे। नवीन शैली के हिन्दी लेखकों में नहीं थे। लोग इसी चक्कर में पड़कर यह नहीं समझ सके कि 'था' के आवरण में छिपा व्यक्ति कौन था।" पत्रकारिता के संबंध में उनका यह लेख सबसे पहला था तो भी उसे (इन्द्र को) यह संतोषप्रद अनुभव हुआ कि मैं कुछ बन सकूं या न बन सकूं किन्तु लेखक अवश्य बन सकता हूँ। इसी भावना से प्रेरित होकर जब इन्द्र जी ने अपनी छात्रावस्था में उच्च लेखक समाज में पढ़ने के लिए अनेक निबंध लिखे। इस प्रकार निरंतर आपकी लेखनी परिष्कृत होती चली गई। प्रातःकाल उठते ही दो-चार श्लोक नित्य लिखने को उन्होंने अपनी दिनचर्या का हिस्सा बना लिया। हिन्दी में ही नहीं संस्कृत में भी वे लेख लिखा करते थे। संस्कृत के प्रति उनका यह अनुराग इतना ज्यादा बढ़ गया कि उन्होंने अपनी डायरी संस्कृत में लिखनी प्रारंभ कर दी।

सन् १९०२ से १९११ तक का समय इन्द्र जी के शिक्षा काल का है। यह समय आर्य समाज और इन्द्र जी के जीवन में विशेष जाग्रति का काल था। इसी समय राजनीतिक क्षितिज पर बंग-भंग की महत्त्वपूर्ण घटना हुई। अरंविद घोष को कारावास का दंड मिला। सूरत में कांग्रेस विभक्त हुई और लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक को मांडले जेल में भेजा गया। इन्द्र जी हृदय से लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के अनुयायी थे। गुरूकुल के सम्बन्ध में भी उस समय ब्रिटिश शासकों का विचार अनुकूल नहीं था। उत्तर प्रदेश के शासकों में जो अंग्रेज़ थे वे लोग इसे राजद्रोह करने वाली संस्था समझते थे। इन्द्र जी ने गुरूकुल में आने वाले अंग्रेज़ों के खिलाफ आंदोलन का स्वयं नेतृत्व भी किया था किन्तु उसी समय इंगलैंड में मजदूर दल के नेता रेमजे मेकडोनाल्ड ने गुरूकुल के सम्बंध में अपने विचारों को इस प्रकार प्रकट किया है, "भारत के राजाओ के संबंध में कुछ थोड़ा सा भी पढ़ा है उन लोगों ने गुरूकुल का नाम अवश्य सुना होगा। यहाँ समाजियों के बालक शिक्षा ग्रहण करते है। आर्यो की भावना और सिद्धान्तों का यह अत्यंत उत्कट मूर्त रूप है। इस उन्नतिशील धार्मिक संस्था और आर्य समाज के विषय में जितना भी संदेह किया जाता है वे सब गुरूकुल पर थोप दिये जाते हैं।" इसलिए इस संस्था पर शासन की तिरछी नजर है। पुलिस

अधिकारी ने इस विषय में गुप्त रिपोर्ट भी की है। अधिकांश इंडियन (अंग्रेज़ों) लोगों ने इसकी निंदा की है। उस समय का वातावरण गुरूकुल और ब्रिटिश सरकार के बीच संघर्ष का सा था। यद्यपि गुरूकुल राजनीतिक आन्दोलन का केन्द्र नहीं था फिर भी स्थानीय शासक इसे राजनीतिक संस्था ही समझते थे। उसी समय अर्थात सन् १९११ ई० में दिल्ली दरबार का आयोजन हुआ उस दरबार में जार्ज पंचम पधारे थे। तत्कालीन वाइसराय ने महात्मा जी (श्रद्धानन्द) को दरबार में उपस्थित होने के लिए आमंत्रित किया था। इसी अवसर का लाभ उठाकर सद्धर्म प्रचारक का दैनिक संस्करण निकाला। महात्मा जी ने दरबार के समाचार देने की व्यवस्था इन्द्र जी के लिए की। उस समय के इस अनुभव का उल्लेख इन्द्र जी करते है कि "मैं अभी विद्यार्थी ही था स्नातक नहीं बना था दैनिक के सम्पादन का भार अपने ऊपर ले लिया। गुरूकुल का क्षेत्र तो काफी छोटा था परन्तु गंगा के इस पार उस मरुस्थली में दैनिक पत्र के लिए सामग्री कहाँ से मिलती। फिर भी बहुत प्रयत्न करके कुछ दिनों तक, शायद १० दिनों तक सद्धर्म प्रचारक का दैनिक संस्करण निकाला गया। आर्थिक दृष्टि से यह पूरी तरह से एक घाटे का सौदा था। न तो स्थानीय बिक्री थी और न ही ऐजेन्सी का प्रबन्ध था। बस इतनी संतोष की बात थी कि दैनिक संस्करण के कारण सद्धर्म प्रचारक की ख्याति हो गई और मैं यह अनुभव करने लगा कि मैं दैनिक पत्र निकाल सकता हूँ। सद्धर्म प्रचारक में इन्द्र जी कुछ ऐसी मार्मिक टिप्पणी लिखते थे जिन्हें पढ़कर गणेशशंकर विद्यार्थी जैसे पत्रकार भी इन्द्र जी से भेंट करने गुरूकुल पधारे। इन्द्र जी की भाषा शैली प्रभावशाली एवं आकर्षक थी जिसके कारण उन्होंने हिन्दी पत्रकारिता में अपना एक विशेष स्थान बना लिया था।

सद्धर्भ प्रचारक में कार्य करते समय एक बार उनके मन में अंग्रेज़ी में लेख लिखने का इच्छा भी उत्पन्न हुई किन्तु उन्हें अपनी प्रतिज्ञा का ध्यान हो आया जिसमें उन्होंने अंग्रेज़ी अक्षरों का प्रयोग नहीं करने की बात स्वीकार की थी।

पंडित इन्द्र जी ने ३० वर्ष पत्रकारिता के माध्यम से साहित्य-सेवा की। जीवन के सूर्योदय से लेखन का जो प्रवाह चला उसने जीवन की गोधूलि तक विराम नहीं लिया। जिन पत्र-पत्रिकाओं में लेख प्रकाशित होते रहे थे वे आज सुलभ नहीं हैं। दिल्ली में आकर उन्होंने जिन पत्रों का सम्पादन किया उनकी फाइलें भी आज उपलब्ध नहीं होती है। सद्धर्म प्रचारक नामक पत्र जिसे महात्मा मुन्शीराम जी ने १८८९ में निकाला था, उर्दू में प्रकाशित होता था लेकिन उसकी विशेषता यह थी कि उसमें हिन्दी और संस्कृत के शब्दों का इतना अधिक प्रयोग रहता था कि लोगों की यह जानना कठिन होता था कि यह पत्र किस भाषा में निकलता है। सन् १९१३ ई० में जब इन्द्र जी ने इस पत्र के सम्पादन का भार संभाला तो एक वर्ष में इस पत्र की ग्राहक संख्या

पहले से दो-तीन गुना ज्यादा हो गई। जो संख्या १२०० थी वह ४००० हो गई। इसे इन्द्र जी के सम्पादन कौशल का ही परिणाम माना जाएगा। ग्राहक संख्या बढ़ जाने के बावजूद भी वे पत्र के प्रभाव के विषय में शंकालु थे। जब तक कोई पत्र पाठकों को प्रेरणा नहीं दे सके तब तक वह सार्थक नहीं हो सकता। इसलिये इन्द्र जी ने सन् १९१८ के दिसम्बर मास में एक नया पत्र निकालने का विचार बनाया। इन्हीं दिनों दिल्ली में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ जिसमें सद्धर्म प्रचारक के प्रतिनिधि के रूप में इन्द्र जी ने भी भाग लिया था। उन्होंने अपनी पुस्तक "पत्रकारिता के अनुभव" में लिखा है कि मैंने सद्धर्म प्रचारक के प्रतिनिधि के तौर पर अधिवेशन में भाग लिया। जोशीले भाषण से उनकी आधी सोई राजनीतिक प्रवृत्ति उत्तेजित हो उठी और शिक्षक का कार्य छोड़कर दिल्ली से एक दैनिक पत्र निकालने का निश्चय किया। अर्थाभाव के कारण उन्हें बहुत से संकटों का सामना करना पड़ा। सन् १९१९ में दैनिक विजय का प्रारंभ ५००० रु. की पूंजी से किया गया था।

इस 'विजय' नामक पत्र के प्रारंभ में किसी प्रकार की व्यापारिक प्रेरणा नहीं थी अपितु देश प्रेम की भावना से ही इस पत्र का प्रकाशन प्रारंभ किया गया था। सन् १९१९ में दिल्ली से प्रथम हिन्दी दैनिक पत्र निकालने का श्रेय इन्द्र जी को ही है। उस समय दिल्ली में हिन्दी दैनिक पत्र के लिए वातावरण कैसा था इसका अनुमान इन्द्र जी के शब्दों से लगाया जा सकता है। उन्होंने लिखा है "इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि पहले अंक की ५०० प्रतियाँ छापी गई थी जिनमें से केवल दिल्ली में ६० प्रतियाँ बिकी। बेचने वालों की यह रिपोर्ट थी कि अधिक संख्या कन्या पाठशालाओं में पढ़ने वाली कन्याओं ने खरीदी। बाबू लोग अंग्रेज़ी अखबार पढ़ते थे और हिन्दू दुकानदार उर्दू अखबार खरीदते थे। अंग्रेज़ी अखबारों में पाइनियर और लीडर का अधिक प्रचार था और उर्दू के अखबारों में लखनऊ का कोई पत्र बड़ी संख्या में बिकता था।" दिल्ली के बंजर होने का स्पष्ट प्रमाण यह था कि उर्दू या हिन्दी में कोई स्थानीय पत्र नहीं निकलता था। ऐसी स्थिति में इन्द्र जी द्वारा दिल्ली से एक हिन्दी दैनिक पत्र निकालने का प्रयास वास्तव में एक साहसिक प्रयास था। 'विजय' पंजाब और दिल्ली का पहला दैनिक पत्र था। कुछ समय तक विजय की गति मंद रही। इन्ही दिनों महात्मा गाँधी ने सत्याग्रह की घोषणा की। दिल्ली में सत्याग्रह के लिए जिस समिति का गठन हुआ उसमें दो मंत्री थे। इन्द्र जी तथा अब्दुल रहमान। देश भर में सबसे पहले दिल्ली के निवासियों ने महात्मा गाँधी के आदेश का पालन किया और ३० मार्च को हड़ताल हो गई। इस सत्याग्रह के लिए दैनिक विजय ने क्या-क्या कार्य किये, इसे पंडित इन्द्र जी के शब्द भली-भाँति स्पष्ट करते हैं "हाँ इतना अवश्य कहूँगा कि मैं सत्याग्रह समिति का सदस्य बनते ही तन्मय हो गया और उसके साथ ही 'विजय' अशान्ति का अग्रदूत बन गया। 'विजय' के प्रकाशन से

इन्द्र जी की निर्भीकता की छाप पाठकों पर पड़ी। 'विजय' के लिए नगर में घूम-घूमकर समाचार एकत्रित करने, उन पर सम्पादकीय टिप्पणी करना और आन्दोलन संबंधी घोषणओं को हिन्दी में तैयार करके छापना, इन्द्र जी के राष्ट्र प्रेम और भाषा प्रेम को प्रकट करता है। उनके इस कठोर परिश्रम से 'विजय' ने दिल्ली के नागरिकों के हृदय में जो स्थान बनाया था वह निम्नलिखित शब्दों से स्पष्ट हो जाता है।

"३० मार्च को प्रातःकाल यह हालात थे कि सारे शहर में 'विजय' की पुकार हो रही थी, हमारे पास एक हैन्डप्रेस था, खरीददार हजारों थे। सुबह से पत्र छपना शुरू होता था और शाम तक छपता रहता था। तब भी शहर की मांग पूरी नहीं होती थी। उत्तर प्रदेश के आगरा, बरेली और राजपूताना के जयपुर, अजमेर, जोधपुर आदि शहरों के एजेन्ट तार भेज रहे थे, कापियां बढ़ाओ, पर यहाँ स्थानीय मांग को पूरा करना भी असंभव हो रहा था।" इस प्रकार विजय को थोड़े समय में आश्चर्यजनक ख्याति प्राप्त हो गई। स्वामी श्रद्धानंद ने विजय के सम्बंध में अपनी भावनायें प्रकट करते हुए लिखा है कि "दिल्ली, उर्दू बेगम की दिलशाद, दिल्ली में हिन्दी के दैनिक की इतनी खपत होती थी कि वह आश्चर्यजनक घटना प्रतीत होती थी। प्रत्येक आर्यदेवी को विजय के साथ प्रेम था, रायबहादुर की देवियां इनको घर में पैर नहीं रखने देती थी जब तक वे ताजा विजय का अंक साथ न लेकर आते"। हिन्दी से अनभिज्ञ लोग विजय को पढ़वाकर सुनने के लिए लेते थे। वास्तव में विजय ने आसपास के क्षेत्रों में राजनीतिक जाग्रति उत्पन्न की थी। इन नगरों तथा ग्रामों में विजय का प्रचार हो रहा था। इन नगरों व ग्रामों का राजनीतिक जाग्रति में इस पत्र का प्रमुख हाथ था। उस समय के विजय के पाठक जानते हैं कि उन स्थानों में प्रारंभिक राजनीतिक जाग्रति की धारा बहाने का श्रेय विजय को ही था जो दिल्ली से बहती हुई एक नदी का जल लेकर आसपास के स्थानों की राजनीतिक दृष्टि से बंजर पड़ी हुई भूमि को उपजाऊ बना रहा था।

तत्कालीन अंग्रेज़ सरकार ने विजय के क्रांतिकारी विचारों और लोकप्रियता से क्षुब्ध होकर पत्र के विकास मार्ग में अड़चने उत्पन्न करना शुरु कर दिया। सरकार के रोष और प्रहार को सेन्सरशिप के रूप में लागू किया गया। विजय के लिए एक सेन्सर नियुक्त किया गया महामहोपाध्याय पंडित बांकेलाल शास्त्री के रूप में। इसका परिणाम यह हुआ कि समाचार और लेख सारी सारी रात सेन्सर के पास पड़े रहते थे, प्रत्येक समाचार ४८ घंटे विलम्ब से छपता था। प्रेस को ज़ब्त करने की धमकियाँ भी सरकार की ओर से आने लगी थी। इसका परिणाम यह हुआ कि बाध्य होकर 'दैनिक विजय' का साप्ताहिक रूप में छपना प्रारम्भ हुआ और आगे चलकर परिस्थितियाँ इतनी प्रतिकूल होती चली गईं कि 'विजय' को बन्द ही कर देना पड़ा। 'विजय' को बन्द करने के

बाद पंडित इन्द्र जी ने लिखा है "इस परीक्षण से मैंने दो शिक्षाएँ ग्रहण की, प्रथम यह कि पर्याप्त साधनों के बिना दैनिक पत्र बहुत देर तक नहीं चलाया जा सकता, दूसरी यह कि यदि लेखनी को निर्भयता और स्वाधीनता से चलाना है तो उसकी नोंक को थोड़ा सा घिस लेना आवश्यक है। यह तो आशा नहीं रखनी चाहिए कि घिसी हुई लेखनी में लिखे लेखों को सरकार देर तक सहन करती जाएगी। परन्तु इतना अवश्य है कि छोटी सी सावधानी पत्रकार को कानूनी शिकंजे में फंसने से कुछ काल तक बचा सकती है।"

विजय का प्रकाशन बंद हो जाने पर इन्द्र जी ने लगभग ३ वर्ष तक गुरूकुल में जाकर अध्यापन का कार्य किया। सन् १९२२ के अंत में गुरूकुल से इन्द्र जी पुनः दिल्ली लौटे और नया पत्र निकालने की तैयारी करने लगे। सन् १९२३ के जनवरी मास के प्रथम सप्ताह में साप्ताहिक 'सत्यवादी' का प्रथम अंक प्रकाशित हुआ और लगभग चार मास के पश्चात् २४ अप्रैल को दैनिक 'अर्जुन' प्रकाश में आया। कुछ महीनों तक सत्यवादी अर्जुन के साप्ताहिक रूप में निकलता रहा परन्तु बाद में वह अर्जुन में ही विलय हो गया। यह ध्यातव्य है कि सरदार भगतसिंह अपने नाम को परिवर्तित करके 'सत्यवादी' के सम्पादकीय विभाग में कुछ समय तक कार्य करते रहे किन्तु इस तथ्य का पता स्वयं इन्द्र जी को भी नहीं चला। इन्द्र जी को यह बात तब पता चली जब भगतसिंह को तलाश करते हुए पुलिस उनके दफ्तर पहुँची, किन्तु तब तक भगतसिंह वहाँ से जा चुके थे।

दैनिक 'अर्जुन' के प्रारंभिक दिन काफी कष्टपूर्ण कहे जा सकते है इन्द्र जी ने अपनी पुस्तक "पत्रकारिता के अनुभव" में लिखा है "समाचार पत्र लिखा जाता था श्रद्धानंद बाजार में और छपता था लगभग ढाई मील की दूरी पर सत्धर्म प्रचारक प्रेस में, जो इन दिनों परेड मैदान वाली सड़क पर था। उस समय पत्र के सम्पादन में मेरे एकमात्र सहायक अमृतसर के स्वर्गीय स्नातक देवराज जी थे। परमधार्मिक सेठ जुगलकिशोर बिड़ला ने प्रेस के लिए कुछ राशि देकर 'अर्जुन' को सहयोग प्रदान किया। 'अर्जुन' एक वर्ष में इतना समर्थ हो गया कि अपने पांव पर खड़ा हो सके। 'विजय' के माध्यम से इन्द्र जी ने जो ख्याति अर्जित की थी वह इस समय काम आई, कहना न होगा कि 'अर्जुन' को सहायक और पाठक मिलने लगे थे। अर्जुन जिस दिन से निकला उसी दिन से उसे साधन हीनता जैसे शत्रु का सामना करना पड़ा। अर्जुन के संघर्षमय जीवन का इतिहास हमें बताता है कि प्रारंभ से लेकर अंत तक इस पत्र को ब्रिटिश सरकार से संघर्ष करना पड़ा। जिन कारणों से 'विजय' का प्रकाशन बन्द करना पड़ा वही समस्यायें अर्जुन के सामने भी आई। सन् १९२५ से सरकार ने 'अर्जुन' के लिए दमन नीति को अपना लिया और छोटे-छोटे कारण बनाकर 'अर्जुन' से संबंधित

व्यक्तियों को परेशान करना प्रारंभ कर दिया। सन् १९२७ ई० के अन्त में अर्जुन के संपादक सत्यकाम विद्यालंकार एवं पत्र के प्रिन्टर और पब्लिसर्स इन्द्र जी को हिरासत में लिया गया। इन्द्र जी को पाँच वर्ष की सक्त कैद की सजा सुना दी गई। सेशन में अपील करने पर इन्द्र जी की सजा छह मास, सम्पादक की सजा तीन मास कर दी गई।

सन् १९२९ ई० में लाहौर उच्च न्यायालय में इन्द्र जी पर मानहानि का मुकदमा चलाया गया। उच्च न्यायालय ने कुछ खर्चा लेकर पत्र से संबंधित व्यक्तियों को तथा मामले को रफ़ा-दफ़ा करने के लिए बाध्य किया। सन् १९३० के आरम्भ में इन्द्र जी पर भी धारा १२४ए के अन्तर्गत अभियोग चलाया गया। जिसमें 'अर्जुन' ने कुछ लेखों को आधार बनाकर सरकार ने इन्हें नौ माह की कठोर कारावास की सजा सुनाई। सन् १९३० के प्रारम्भ में देश में नमक सत्याग्रह प्रारम्भ हुआ। इस सत्याग्रह से घबराकर दिल्ली के कुछ राष्ट्रीय पत्रों जैसे हिन्दुस्तान टाइम्स, अर्जुन, तेज आदि को सरकार का कोपभाजन बनना पड़ा। इन पत्रों से दस हज़ार की जमानत सरकार द्वारा मांगी गई। समाचार पत्र के मालिकों ने जमानत देना उचित नहीं समझा और प्रतिवाद स्वरूप पत्रों का प्रकाशन बन्द कर दिया। मई से अगस्त तक दिल्ली के समाचार जगत में अन्धकार सा छा गया। अगस्त मास में सरकार ने जमानत की राशि घटाकर चार हजार कर दी। चार हजार की जमानत करने पर अर्जुन का प्रकाशन पुनः प्रारम्भ हुआ। सन् १९३५ में क्वेटा के भूकम्प से सम्बन्धित कुछ लेख अर्जुन में प्रकाशित हुए थे। उनसे नाराज होकर सरकार ने पुनः अर्जुन से पाँच हजार की जमानत मांगी, जो देनी पड़ी। कुछ समय पश्चात पाँच हजार में से दो हजार रूपये जब्त कर लिये गये। उसके बाद सन् १९४२ ई. में देश में क्रान्ति की ज्वाला भभक उठी। सरकार उससे भयभीत हो गई और उसने समाचार पत्रों का दमन करने के लिए सेंसरशिप का प्रयोग किया। 'अर्जुन' को भी सेंसरशिप के बन्धन में बंधना पड़ा और उसके अलावा १५०० रु. की दो जमानत भी देनी पड़ी। घटना का वर्णन इन्द्र जी ने अपनी पुस्तक 'पत्रकारिता के अनुभव' में विस्तार से किया है। कुछ पूंजीपतियों ने भी अर्जुन के मार्ग में बाधाएं उत्पन्न की। उन्होंने एक पत्र भी प्रकाशित किया। इन्द्र जी ने अपनी पुस्तक में लिखा है, "यहाँ यह स्वीकार करने में मुझे कोई भी संकोच नहीं कि इस नये पत्र की प्रतिद्वन्द्विता ने अर्जुन के रास्ते में असाधारण कठिनाईयाँ उत्पन्न कर दी थी। उन दिनों हिन्दी दैनिक की एक प्रति का मूल्य दो पैसा था। अर्जुन दो पैसों में एक पृष्ठ देता था। इस नये पत्र ने आठ पृष्ठ देने शुरू कर दिये, लाचार होकर अर्जुन को भी आठ पृष्ठ का पत्र निकालना पड़ा। तब नये दैनिक पत्र ने पृष्ठ संख्या बढ़ाकर १० कर दी। उस पत्र की पीठ पर करोड़पतियों की थैलियाँ थी। जीवन रक्षा के लिए 'अर्जुन' को भी पृष्ठ संख्या बढ़ा देनी पड़ी। इस गलाकाट प्रतिस्पर्धा का फल यह हुआ कि अर्जुन

पर कागजी का चालीस हजार से अधिक ऋण हो गया। इस सम्बंध में उन्होंने आगे लिखा "भारत के एक बड़े पूंजीपति ने दिल्ली में अपने शायद पाँचवे विवाह की योजना की। उनकी पूर्व पत्नियाँ जीवित थी। इस समाचार से सामाजिक हल्कों में हलचल मच गई, इस कारण यह प्रस्तावित विवाह निश्चित समय पर नहीं हो सका। यह समाचार नामों को छोड़कर 'अर्जुन' में प्रकाशित कर दिया गया। इससे वे सज्जन काफी विक्षुब्ध हुए। इस घटना का एक फल यह हुआ कि उक्त महानुभाव की ओर से भी शीघ्र ही एक हिन्दी दैनिक दिल्ली से प्रकाशित होने लगा। इन्द्र जी ने 'अर्जुन' का प्रतिज्ञा वाक्य रखा था "**अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम्**"। इन्द्र जी ने अपने जीवन में लगभग ३० वर्ष तक पत्र का सम्पादन किया और यह पत्र अर्जुन उत्तर भारत में जनजागरण का प्रमुख सूत्रधार बना रहा।

इन्द्र जी का दृष्टिकोण सर्वथा राष्ट्रीय था। इन्द्र जी पत्र के माध्यम से निर्भीकता पूर्वक अपने विचारों को व्यक्त करते थे। उनके द्वारा लिखे गये 'सम्पादकीय लेखों के शीर्षक उसकी स्वतंत्र विचारधारा और निर्भीकता का परिचय देते है'। जैसे "हुजूर यह बगावत नहीं राज्यक्रांति है", "दब्बूनीति से काम नहीं चलेगा", "तूफान का पूर्व रूप" स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी इन्द्र जी की विचारधारा वैसी ही निर्भीक बनी रही। वे अपने लेखों में तथा उनके शीर्षकों में सच्ची स्पष्टवादिता का आभास देते रहे। जैसे उनके लेखों के शीर्षक हैं "राष्ट्रीय नेताओं से निवेदन : शासन करो या गद्दी छोड़ दो", "विभाजन का पागलपन", "कांग्रेस की मौलिक भूल", "कश्मीर पर संकट", "हिन्दुओं के साथ अन्याय" आदि।

सन् १९३४ में इन्द्र जी को अर्जुन के किसी कार्य से बम्बई जाना पड़ा। बम्बई में उस समय हिन्दी के समाचार पत्र का अभाव था। वहाँ के गुजराती पत्र के स्वामी सेठ रणछोड़दास ने इन्द्र जी से बम्बई में हिन्दी समाचार पत्र निकालने का आग्रह किया। इन्द्र जी उस समय तो पत्र नहीं निकाल सके लेकिन यह भावना उनके मन में रह गई। सन् १९३८ के अगस्त मास में बम्बई से पत्र निकालने का संकल्प लेकर वे बम्बई पहुँचे। सर्वप्रथम हिन्दी समाचार पत्र लिमिटेड कम्पनी बनाई। जिसके प्रारंभिक निदेशकों में सेठ शूरजी, वल्लभदास, राजा गोविन्दलाल पित्ती, सेठ गोविन्दराम सेकसरिया जैसे प्रभावशाली महानुभाव थे। बम्बई से दैनिक नवराष्ट्र का प्रकाशन एक बहुत ही साहसिक कार्य था। १० जनवरी, १९३९ के दिन नवराष्ट्र का उद्घाटन समारोह सम्पन्न हुआ। इस समारोह में दैनिक पत्र नवराष्ट्र के उद्घाटनकर्ता थे श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी। १५ जनवरी, १९३९ के दिन नवराष्ट्र का प्रारंभिक अंक प्रकाशित हुआ। इन्द्र जी की लेखनी ने बम्बई में भी चमत्कार दिखाया। एक वर्ष में नवराष्ट्र की ग्राहक संख्या पाँच हजार तक पहुँच गई। उस समय इन्द्र जी को अनुभव हुआ कि इस

महानगरी के लिए पत्र निकालने का उनका इरादा तो पूरा हो गया किन्तु एक अच्छे सम्पादक की आवश्यकता अवश्य थी। इन्दौर के प्रसिद्ध सेठ हीरालाल जी ने निदेशक बनने के अतिरिक्त पत्र चलाने में पूर्ण सहयोग देने का निश्चय प्रकट किया।

इन्द्र जी ने लगभग ३० वर्ष तक पत्रकारिता के माध्यम से हिन्दी जगत की सेवा की। अपने इस काल में उन्हें कटुतिक्त अनुभव हुए। साठ वर्ष की आयु में उन्होंने पत्रकारिता से संन्यास लेना चाहा किन्तु उन्हीं दिनों उन्हें एक पूंजीपति से सम्पर्क स्थापित करने का अवसर मिला और यहीं से उनके पत्रकारिता जीवन में एक नया अध्याय जुड़ गया। पत्रकारिता का यह अंतिम अध्याय मानों उन्हें संसार की यथार्थ स्थिति से अवगत कराने आया था। उन्होंने स्वयं लिखा है "प्रतीत होता है कि यह अंतिम अध्याय मुझे संसार की गतिविधि की सूचना देने आया था।" दोष उसका नहीं था, जिसका काम चकमा देना है, दोष उसका है जो चकमें में आ जाए। इन्द्र जी ने उस व्यक्ति का नामोल्लेख जानबूझकर अपनी पुस्तक में नहीं किया है। अपने इस एक वर्ष के अनुभव के विषय में वे लिखते हैं "जो पत्रकार विचारों की स्वाधीनता से प्रेम रखता है उसे पूंजीपतियों के सत्संग से बचना ही चाहिए। पूंजीपतियों का पत्र संचालन कोरा व्यवसाय है उसमें आदर्शवाद की गुंजाइश नहीं है।" इस पूंजीपति ने जब इन्द्र जी के सामने पत्र संचालन का प्रस्ताव रखा तब इन्द्र जी ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये थे "मैं ३० वर्ष से अधिक समय तक दैनिक पत्रकारिता का काम करता-करता अब ऊब चुका हूँ अब शेष समय स्थिर साहित्य सेवा में लगाना चाहता हूँ। विशेष रूप से इस समय तो शारीरिक अस्वथता के कारण मेरी किसी बंधन में बन्धने की इच्छा नहीं है फिर भी हिन्दी पत्रकारिता का हित समझकर मैं आपको सहयोग देना चाहता हूँ लेकिन मेरी कुछ शर्तें हैं। उनमें पहली शर्त यह है कि मैं पत्र सम्पादन में पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करना चाहूँगा। मैं उसमें किसी का हस्तक्षेप नहीं चाहूँगा। जिस दिन मेरे कार्य में हस्तक्षेप होगा, उसी दिन मैं पत्र से सम्बंध विच्छेद कर लूंगा। दूसरी शर्त यह है कि मुझ पर पत्र कार्यालय में समय का कोई बन्धन नहीं होगा। गुरूकुल तथा अन्य सामाजिक जिम्मेदारियों के कारण मैं कार्यालय में नहीं पहुँच सकूंगा तो भी सम्पादकीय विभाग की पूरी जिम्मेदारी मेरी होगी। इन दोनों शर्तों के साथ मैं केवल दो वर्ष तक नया पत्र चलाने में सहयोग दूंगा और विश्वास करता हूँ कि यदि प्रेस और प्रबंध विभाग ने पूरी सहायता की तो पत्र की ग्राहक संख्या एक वर्ष में तीस हजार तक पहुँच जाएगी।" इन्द्र जी ने एक वर्ष तक इस पत्र का सम्पादन किया और उनके अध्यवसाय के कारण उसी कार्यालय से निकलने वाले हिन्दी और अंग्रेज़ी पत्रों में हिन्दी का पत्र अपेक्षाकृत अधिक ख्याति प्राप्त कर रहा था। दैनिक 'विजय' के प्रारंभिक काल में एसोसिएटेड प्रेस के महाप्रबंधक श्री राय ने इन्द्र जी से यह शब्द कहे थे "मैं तुम्हें सलाह देता हूँ कि नौजवान दिल्ली से अखबार मत निकालो/दिल्ली अखबारों के लिए

बंजर भूमि है। अपने कठिन, परिश्रम निर्भीकता और सत्यप्रियता तथा लेखन कला से दिल्ली की बंजर भूमि को इन्द्र जी ने हरा-भरा और उपजाऊ बना दिया। आज दिल्ली से हिन्दी में छह राष्ट्रीय स्तर के समाचार पत्र प्रकाशित हो रहे हैं जिनकी ग्राहक संख्या लाखों में हैं। इन्द्र जी ने अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए कभी पत्र के मालिक के घर जाकर पेशी नहीं दी। वर्ष भर काम करने के बाद विस्फोट इस प्रकार हुआ कि इन्द्र जी ने अपने सम्पादकीय में बम्बई सरकार की आज्ञा की कड़ी आलोचना की। परिणाम यह हुआ कि पत्र के स्वामी पूंजीपति महोदय इन्द्र जी से रुष्ट हो गये। इन्द्र जी से सम्पादकीय लेख वापस लेने के लिए कहा गया परन्तु इन्द्र जी ऐसा करने के लिए तैयार नहीं हुए। पूंजीपति के उस एक पत्र का इन्द्र जी ने उत्तर निम्नांकित शब्दों में दिया "क्योंकि आपने आश्वासन के विरुद्ध मेरी सम्पादकीय नीति में हस्तक्षेप करने का यत्न किया है इस कारण मैं आज से पत्र का कार्य छोड़ रहा हूँ, मैं न तो पत्र के लिए लेख लिखूंगा और न ही कार्यालय में जाऊंगा।" यह स्पष्ट था कि पत्र स्वामी का आचरण उनकी प्रतिज्ञाओं के सर्वथा विरुद्ध था। वे समझ रहे थे कि १५ हज़ार की ग्राहक संख्या पहुँच जाने के बाद ऐसी लगी हुई आजीविका को मैं शायद छोड़ना पसंद नहीं करूंगा। किन्तु इन्द्र जी ने इस पत्र के बाद ही पत्रकारिता से संन्यास ले लिया।

पंडित इन्द्र जी ने सब मिलाकर ३२ वर्ष तक हिन्दी पत्रकारिता की सेवा करते हुए उसकी अभिवृद्धि में बड़ा योगदान किया। उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि इन्द्र जी हिन्दी पत्रकारिता गगन के एक प्रकाशमान नक्षत्र थे। हिन्दी के दैनिक पत्रों के संचालकों तथा सम्पादकों में उनका स्थान शीर्षस्थ है। उन्होंने पत्रकारिता के द्वारा धनार्जन नहीं किया। अर्जुन के दशाब्दी समारोह में विश्व कवि रवीन्द्रनाथ टैगौर ने पधारकर 'अर्जुन' को आशीर्वाद दिया। सन् १९४७ के जनवरी मास में अर्जुन का रजत जयंती समारोह मनाया गया। इसमें डा० राजेन्द्र प्रसाद ने कहा था "मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि पंडित इन्द्र जी द्वारा संचालित 'वीर अर्जुन' की सेवायें सर्वविदित है। मैं आशा करता हूँ कि इसकी उन्नति उत्तरोत्तर होती रहेगी। राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन, मैथिलीशरण गुप्त आदि ने आशीर्वाद देते हुए इन्द्र विद्यावाचस्पति को देश के मूर्धन्य पत्रकार के रूप में स्थान दिया। इन्द्र जी ने जिस समय पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया था उस समय पत्र का संचालन एवं संपादन असिधाराव्रत था। देश दासता की श्रृंखला में जकड़ा हुआ था/इन्द्र जी का जीवन त्याग, तपस्या और बलिदान का जीवन था। पत्र संचालन के सिलसिले में उन्हें तीन बार कारावास का कष्ट भी भोगना पड़ा, किन्तु वे अपने पथ से विचलित नहीं हुए और दिल्ली शहर में ही नहीं अपितु समस्त भारत में हिन्दी पत्रकारिता को उन्होंने स्थापित कर राष्ट्र सेवा का एक महान कार्य किया।

स्वतंत्र चेता पत्रकार

पंडित इन्द्र जी केवल स्वतंत्र विचारों के ही नहीं थे वरन् उनकी रूचि भारतीय पत्रकारिता के स्वरूप निर्धारण तथा सुगंठित रूप से अपने पैरों पर खड़ा करने की शक्ति प्रदान करने में भी थी। उस समय जब इन्द्र जी ने पत्रकारिता के क्षेत्र में पदार्पण किया था भाषा की स्वतंत्रता संकट में थी। भारतीय पत्रकारों ने उस समय अखिल भारतीय सम्पादक सम्मेलन बुलाने की योजना बनाई थी। इस सम्मेलन के आयोजकों में तीन व्यक्ति मुख्य थे। एक देवदास गाँधी, अंग्रेज़ी के और दूसरे देशबन्धु गुप्त उर्दू के और इन्द्र जी हिन्दी के। यह सम्पादक सम्मेलन अंग्रेज़ी पत्र स्टेटसमेन के सम्पादक आर्थर मूर की अध्यक्षता में हुआ। इसका दूसरा अधिवेशन भी दिल्ली में, बम्बई से प्रकाशित होने वाले क्रोनिकल के सम्पादक ब्रेलवी की अध्यक्षता में हुआ। आल इंडिया एडीटर्स कांफ्रेन्स की नींव इसी समय में पड़ी, इस कान्फ्रेस पर प्रारंभ से ही अंग्रेज़ी का प्रभुत्व था। इन्द्र जी ने अंग्रेज़ी के इस प्रभुत्व को समाप्त करने के लिए देशी भाषाओं के पत्रों के सम्मेलन बुलाने का संकल्प किया और इस सम्मेलन के स्वयं स्वागताध्यक्ष बने। अखिल भारतीय हिन्दी पत्रकार सम्मेलन का दूसरा वार्षिक अधिवेशन कलकत्ता में हुआ। इसकी अध्यक्षता पंडित इन्द्र जी ने की। उस समय दैनिक पत्रों के सम्पादकों एवं संचालकों में इन्द्र जी का सर्वोच्च स्थान था। उनकी पुस्तक "मेरी पत्रकारिता के अनुभव" में हिन्दी पत्रकारिता के सम्बंध में दुर्लभ जानकारी मिलती है। पंडित इन्द्र जी का हिन्दी प्रेम इससे ही स्पष्ट होता है कि जब महामना पंडित मदन मोहन मालवीय ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की तब उन्होंने हिन्दी प्रदेश के विश्वविद्यालयों में शिक्षा के माध्यम का प्रश्न उठाया, और अंग्रेज़ी माध्यम का विरोध किया। उस समय गूरूकुल कांगड़ी में विज्ञान, इतिहास और गणित आदि विषयों की शिक्षा हिन्दी माध्यम से होती थी, जो कि एक नया प्रयोग था। यदि इस प्रयोग का अनुकरण भारतीय विश्वविद्यालयों में होता तो आज भारत में जो विश्वविद्यालय स्थापित है उनमें अंग्रेज़ी के माध्यम का प्रश्न कदापि उपस्थित नहीं होता। पंडित इन्द्र जी की पत्रकारिता ने हिन्दी को केवल प्रोत्साहन देकर स्थापित ही नहीं किया वरन सार्वदेशिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने में भी अमित योगदान दिया। उस समय हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में दो व्यक्ति थे जो लोकप्रियता प्राप्त कर सके पहले पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति और दूसरे गणेश शंकर विद्यार्थी।

राजनीति में सक्रिय योगदान

पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति अपने पिता स्वामी श्री श्रद्धानंद जी से समाज सेवा का व्रत लेकर इस कार्य को उन्होंने तीन भागों में विभक्त कर लिया था। शिक्षा, समाज सुधार तथा राजनीति। इन क्षेत्रों में वे अपनी युवावस्था से ही सक्रिय थे। गुरूकुल कांगड़ी से वेदालंकार की उपाधि प्राप्त करने के बाद गुरूकुल में ही अध्यापन का कार्य प्रारंभ कर दिया था और लम्बे अरसे से वे वहाँ इतिहास, साहित्य, धर्म, दर्शन आदि का अध्यापन करते रहे। सन् १९१९ में दिल्ली से 'विजय' नामक पत्र का प्रकाशन करने के लिए उन्हें कुछ समय के लिए यह अध्यापन कार्य छोड़ना पड़ा। जैसा कि पहले लिखा है कि उन्होंने दिल्ली से कई पत्रों का सम्पादन प्रकाशन किया। ब्रिटिश सरकार की ओर से नाना प्रकार की बाधाओं के उपस्थित होने पर ही उन्होंने अपने समाचार पत्रों का प्रकाशन बन्द कर दिया और वे पुनः गुरूकुल चले गये।

गुरुकुल में जाकर उन्होंने पुनः अध्यापन का कार्य प्रारंभ कर दिया। अध्यापन के समय उनकी दृष्टि मातृभाषा की अनिवार्यता तथा भारतीय जीवन पद्धति पर विशेष ध्यान देना था। भारतीय जीवन पद्धति से उनका तात्पर्य था कि गुरूकुल में पढ़ने वाले ब्रह्मचारी भारतीय संस्कृति, सभ्यता से सम्पृक्त रहें और भारतीय अस्मिता को भली-भाँति पहचान सके। शिक्षा के क्षेत्र में उनका योगदान इसलिए विशिष्ट है कि इन्होंने गुरूकुल के ब्रह्मचारियों को भारतीय परम्परा के स्वस्थ जीवन दर्शन से जोड़े रखने में पूरी सतर्कता से काम किया। वे केवल पुस्तकीय ज्ञान के आधार पर पढ़ाने वाले शिक्षक नहीं थे अपितु आचरण की मर्यादा में ज्ञान की वास्तविक शक्ति के प्रदाता थे। इन्होंने इसलिए अध्यापन को स्वीकार किया था कि उनके सम्पर्क में आने वाले विद्यार्थी भारतीय साहित्य से शिक्षा ग्रहण करके अपने अतीत गौरव को समझ सके। गुरूकुल में उन्होंने इसलिए राष्ट्रसेवा की भावना से इतिहास, संस्कृति, साहित्य आदि के लिए विशेष कार्य किया था। उन्होंने अपनी डायरी में लिखा है "मैं गुरूकुल का मुख्याधिष्ठाता, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा का कार्यकर्ता प्रधान हूँ और शिक्षा मंत्रालय के साहित्यिक कार्यों में रूचि लेता हूँ।"

इन्द्र जी ने अपने अध्यापन काल में हिन्दी भाषा और साहित्य की समृद्धि के लिए राष्ट्र के स्वतंत्र होने पर, संविधान परिषद में भाषा संबंधी समस्या उत्पन्न होने पर उसको हल करने के लिए अनेक प्रकार के प्रयत्न किये। सन् १९४८ में दिल्ली में

प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हुआ जिसके इन्द्र जी सभापति चुने गये। दिल्ली का सम्मेलन प्रदेश स्तर का था लेकिन इन्द्र जी के सभापति होने के कारण इसमें श्री पुरूषोत्तम दास टंडन, रवि शंकर शुक्ल, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि अनेक गणमान्य विद्वान उपस्थित हुए थे। राष्ट्रभाषा के सम्बंध में इन्द्र जी के विचार बहुत स्पष्ट थे। उनका कहना था कि "इस समय देश की सबसे बड़ी आवश्यकता है सर्वसाधारण को शिक्षा दी जाए, हर एक भाषा में उत्तम तथा जीवन योग्य पुस्तकों की आवश्यकता है यह आवश्यकता पूरी क्यों नहीं होती क्योंकि अंग्रेज़ी लिखना परम धर्म समझा जा रहा है। इससे लाभ क्या है? अंग्रेज़ी के लिए काम करने वाले बहुत है इसलिए मैं अपनी भाषा में ही लिखूंगा। अंग्रेज़ी लिखने के प्रलोभन में मैं नहीं पडूंगा। उनकी मान्यता थी कि मातृभूमि और जनता की सेवा अंग्रेज़ी द्वारा नहीं हो सकती। यह तो हिन्दी द्वारा ही संभव है।" एक स्थान् पर उन्होंने लिखा है "हमारी दिमागी गुलामी का चिन्ह है कि हम यूरोप में पढ़े हुए की बड़ी प्रतिष्ठा करते हैं। सरकार तो जानबूझकर इनकी प्रतिष्ठा करती ही है। इससे अंग्रेज़ी उपाधि वालों की तथा अंग्रेजी की प्रतिष्ठा और अधिक हो जाती है। विदेशी डिग्री की प्रतिष्ठा करना दिमागी दासता है।"

सन् १९२० में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का दिल्ली में पहला अधिवेशन हुआ था। उस समय पंडित इन्द्र जी इसके कार्यवाहक प्रधान थे। इस सम्मेलन ने दिल्ली के जीवन में हिन्दी के लिए अनुकूल वातावरण का निर्माण किया था। यूं तो सामाजिक कार्यों की दृष्टि से इन्द्र जी का समय आर्य समाज के सामाजिक जागरण का था किन्तु राजनीति से आर्य समाज का सीधा सम्बंध नहीं था। संसार का उपचार करना आर्य समाज का परम धर्म है, इसलिए इन्द्र जी का ध्यान देशोद्धार की ओर गया और उन्होंने देश की स्वतंत्रता के लिए राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश किया। उनका मत था कि शरीर के एक अंग में रोग होते हुए दूसरा अंग निरोग नहीं रह सकता। उस समय राजनीति के क्षेत्र में कांग्रेस ही एक ऐसी पार्टी थी जिसमें व्यक्ति राष्ट्र की स्वतंत्रता के लिए कुछ कार्य कर सकता था। इसलिए २६ सितम्बर, १९३४ को इन्द्र जी ने जिला कांग्रेस की प्रधानता स्वीकार कर ली। पहले वे कांग्रेस का कार्य तो कर रहे थे किन्तु किसी पद का उत्तरदायित्व वे लेना नहीं चाहते थे। अतः सक्रिय राजनीति में प्रवेश करते ही उन्होंने निश्चय किया कि मैं बहुत धनसाध्य जीवन व्यतीत नहीं करूंगा। समृद्ध जीवन और सार्वजनिक सेवा यह दोनों पृथक-पृथक मार्ग हैं। इस प्रकार भारत जैसे पराधीन देश में ये दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते हैं। उस चुनाव संग्राम में कांग्रेस को सफल बनाने में इन्द्र जी ने रोहतक, मेरठ, मुजफ्फनगर, बिजनौर, देहरादून और खुर्जा में बहुत काम किया और कांग्रेस को असाधारण सफलता भी दिलाई। इस सफलता से उत्साहित होकर इन्द्र जी की अध्यक्षता में प्रान्तीय कांग्रेस

कमेटी में म्युनिसिपल चुनाव लड़ने का निश्चय किया। इस चुनाव में कांग्रेस के प्रायः सभी प्रत्याशी जीत गये। इस विजय से इन्द्र जी के राजनीतिक जीवन की धाक जम गई। आगे चलकर कुछ राजनीतिक विचार वैषम्य होने पर उन्होंने कांग्रेस के सभी कार्य आँख बंद कर स्वीकार नहीं किये। अपने पत्रों के द्वारा वे कांग्रेस की निरन्तर आलोचना करते रहे। कुछ सैद्धान्तिक कारणों से उन्हें कांग्रेस को छोड़ना पड़ा किन्तु वे कांग्रेस छोड़कर किसी अन्य पार्टी में शामिल नहीं हुए।

महात्मा गाँधी के सत्याग्रह को इन्द्र जी ने यथावत स्वीकार नहीं किया। उनका कहना था कि महात्मा गाँधी सत्याग्रह के लिए जिस प्रकार की मानसिक, वाचिक और कायिक अहिंसा की आवश्यकता समझते हैं वह एक अस्वाभाविक वस्तु है। उनका कहना था कि यह एक भ्रम है और इस भ्रम को पालने के लिए जितने महात्मा जी उत्तरदायी है, वहाँ वे लोग उनसे भी बढ़कर उत्तरदायी है जो महात्मा जी की अहिंसा को न मानते हुए भी उनके अनुयायी बने हुए हैं। उन्होंने कांग्रेस से अपना त्यागपत्र देते हुए लिखा "मेरा त्यागपत्र ईमानदारी से बेईमानी का अवलम्बन न करने के कारण से है। जो व्यक्ति महात्मा जी द्वारा की गई शन्तिमय शब्दों की व्याख्या को नहीं मानता हो उसके सामने उसकी ईमानदारी का यह एक उपाय है कि अपनी सम्मति स्पष्ट शब्दों में प्रकट कर दे, मैंने वैसा ही किया है।"

हिंसा और अहिंसा के शास्त्रीय विवाद में अपना पक्ष स्पष्ट करने के लिए इन्द्र जी ने "जीवन संग्राम" नामक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक के प्रारंभ में "विजयरहस्यम्" शीर्षक से इन्द्र जी ने ग्यारह श्लोक लिखे हैं। उसकी एक पंक्ति है **"सबला एवं जीवन्ति विलीयन्तेतु दुर्बलाः"** उन्होंने अपने सामाजिक तथा धार्मिक कार्यों के सम्बंध में अपने आरम्भिक जीवन में ही कुछ सिद्धान्त सूत्र बना लिये थे। सन् १९१३ में उन्होंने अपनी डायरी में लिखा है "आर्यों की मातृभूमि आर्यावर्त को उस ऊँचे स्थान पर पहुँचाना है जहाँ पर सभी देश पहुँचे हैं। यह राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक, नैतिक स्वाधीनता के बिना असंभव है"। उन्होंने आगे लिखा है मेरा कार्य होगा (१) भारतवासियों के जीवन में सच्चे धार्मिक भाव उत्पन्न करना (२) भारतवासियों में उपयोगी राष्ट्रीय भाव उत्पन्न करना (३) जिन्हें नीच या अछूत आदि कहा जाता है उन्हें ऊँची जातियों के समान स्थान देना (४) राष्ट्रीय जाग्रति उत्पन्न करना (५) धार्मिक जातीय और प्रान्तीय भेद छोड़कर लोगों में एक भारत और भारतीय जाति के भाव पैदा करना। यह समझाना कि देशबन्धु है, धर्मशत्रु है। भारतवर्ष में सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिए इन्द्र जी ने राष्ट्रसेवा के सम्बंध में जो विचार बनाये थे उनमें आर्य समाज, गुरूकुल शिक्षा प्रणाली, साहित्य लेखन, पत्रकारिता, राजनीति, अस्पृश्यता निवारण, दलितोद्धार हिन्दी भाषा तथा नागरी लिपि का प्रचार मुख्य था। राजनीति के क्षेत्र में इन्द्र जी की

विचारधारा लोकमान्य तिलक के अनुकूल थी और वे भारत को स्वतन्त्र बनाने के लिए सभी प्रकार के हिंसक और अहिंसक आन्दोलनों के पक्ष में थे। किन्तु लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक की मृत्यु के बाद कांग्रेस में लम्बे समय तक कार्य करने के बाद, उन पर महात्मा गाँधी का प्रभाव पड़ा और कुछ सीमा तक वे गाँधी जी के असहयोग आन्दोलन के पक्षधर भी हो गये थे, किन्तु मन से सत्याग्रह की उस कल्पना से सहमत नहीं थे जो महात्मा गाँधी की कल्पना थी। इसलिए उन्होंने कांग्रेस से त्यागपत्र भी दे दिया था। उस समय भारतीय कांग्रेस कमेटी में कोई दूसरा ऐसा व्यक्ति नहीं था जो महात्मा गाँधी के विचारों से मेल नहीं होने पर त्यागपत्र देने का साहस करता। यह अदम्य साहस पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति जी में ही था।

सामाजिक तथा शैक्षिक अवदान

इन्द्र विद्यावाचस्पति जी ने अपने विद्यार्थी जीवन में छोटी-बड़ी अनेक संस्थाओं का संगठन किया और उनका संचालन भी किया। लेखक बनने की इच्छा तो उनमें विद्यार्थी जीवन में ही हो गई थे किन्तु संस्थाओं के सगठन और संचालन की इच्छा गुरूकुल से स्नातक हो जाने के बाद बलवती होती गई। सन् १९०८ में हैदराबाद बाढ़ पीड़ितों के प्रति संवेदना प्रकट करने और उनके सहायतार्थ धृतयुक्त भोजन का परित्याग करके कुछ धनसंचय किया और उसे सहायतार्थ भेजा। उस समय यह एक सामाजिक कार्य था। जिसके लिए इन्द्र जी ने बहुत मनोयोग से इस कार्य में सहायता दी। इस सामाजिक कार्य के बारे में इन्द्र जी लिखते है "क्योंकि मैं अभी बीमारी से उठा था तथा खांसी के कारण घी नहीं खा रहा था अतः मैंने अपने १२ रु० की घड़ी भी दानफंड में दे दी क्योंकि मुझ पर जो एक भार था उससे कुछ उऋण हो जाऊँ।" यह एक ऐसी बात थी, जोकि विद्यार्थी इन्द्र की उदारता का एक अनुकरणीय उदाहरण है। आज के इस स्वार्थपूर्ण युग में ऐसे उदाहरण खोज पाना मुश्किल है। ज्यों-ज्यों इन्द्र जी के मन में समाज सेवा के लिए निष्ठा बढ़ती गई त्यों-त्यों उनके मन में ईश्वर के प्रति अनुराग भी दृढ़ होता गया। उन्हीं दिनों की बात है, पटियाला में आर्य समाज के कार्य करने के लिए आर्य नेता बड़ी संख्या में पकड़े गये और उन पर मुकदमा चलाया गया। जमानत की प्रार्थनाएं भी ठुकरा दी गई। तब विक्षुब्ध होकर यह निर्णय लिया कि "जब तक पटियाला के आर्य नेता कष्ट मुक्त नहीं होगें तब तक मैं नीचे ही सोऊंगा। सहानुभूति और संवेदना की यह स्पृहणीय भावना इन्द्र जी के मन की उदात्त भावना को व्यक्त करने वाली है।

सामाजिक कार्यों के साथ वे धार्मिक कार्यों में भी रूचि लेते थे। धर्म के प्रति, ईश्वर के प्रति उनकी यह आस्था आयु के साथ उत्तरोत्तर बढ़ती गई। उनका यह विश्वास था कि जो मनुष्य मनसा, वाचा, कर्मणा ईश्वर में विश्वास रखता है और किसी का अहित चिन्तन नहीं करता उसे अपने कार्य में सफलता अवश्य मिलती है। वह किसी से याचना करने के सर्वथा विरूद्ध थे। उनका विश्वास था यदि याचना करनी हो तो ईश्वर से करो, क्योंकि वहीं संसार को सब कुछ प्रदान करता है।

सन् १९३३ ई० में हैदराबाद की निजाम सरकार की ओर से वैदिक धर्म और आर्य समाज पर प्रतिबंध लगाने का काम शुरू हुआ और आर्य समाज में साप्ताहिक

सत्संग रोके जाने लगे, आर्य समाज के प्रचारकों और कार्यकर्ताओं को काले पानी की सजा दी जाने लगी, जो आर्य वीर जेल में भेजे गये उन्हें घर से भोजन आदि की कोई व्यवस्था नही थी। सभी लोग बड़े कष्ट में जीवन व्यतीत कर रहे थे। इस धर्मसंकट के अवसर पर ३० अप्रैल, १९३३ को सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की बैठक हुई। इस बैठक में इन्द्र जी ने १२ सूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत किया। प्रस्ताव की भूमिका में कहा गया था "यह सभा हैदराबाद रियासत में आर्य समाज और आर्य समाजियों पर जो अत्याचार हो रहे हैं उनकी घोर निंदा करते हुए उन आर्यजनों के साथ हार्दिक सहानुभूति प्रकट करती है। इस सभा को इस बात का विशेष दुख है कि रियासत के उच्च अधिकारियों ने सभा के प्रतिनिधियों को बराबर आश्वासन दिये है कि आर्य समाज के साथ न्यायपूर्ण व्यवहार किया जाएगा। किन्तु आश्वासनों को सदा तोड़ा ही गया है और स्थिति को अधिक से अधिक खराब होने दिया है। यह सभा समझती है कि अब दशा बहुत ही बिगड़ गई है और उसकी उपेक्षा-असंभव है।" इस १२ सूत्री मांगों का आलेख रियासत के अधिकारियों के पास भेजा गया जहाँ उसकी कोई परवाह नहीं की गई। तब यह निश्चय हुआ कि ५ मास के अन्दर रियासत के समीप एक आर्य सम्मेलन किया जाए जो इस समस्या पर विचार करें। यदि रियासत के अधिकारी अपनी नीति में परिवर्तन करने को तैयार नहीं हो तो समस्त आर्य समाजों को उचित उपायों से, जिसमें सत्याग्रह भी शामिल है, अपने अधिकारों के लिए लड़ने के लिए तैयार हो जाना चाहिए।" इस प्रकार हैदराबाद में वैदिक धर्म और आर्य समाज की रक्षा के लिए सत्याग्रह का बीजारोपण करने का कार्य पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति ने ही किया। इन्द्र जी को रक्षा समिति का प्रधान नियुक्त किया गया था। इन्द्र जी ने बड़ी सूझ-बूझ के साथ इस कार्य का उत्तरदायित्व संभाला और उस समय अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त की।

एक दूसरी घटना सन् १९४४ ई० की है जब मुस्लिम लीग की ओर से आर्य समाज के धर्मग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश पर पाबंदी लगाने के लिए विषाक्त प्रचार किया जाने लगा। इस अवसर पर भी इन्द्र जी के प्रस्ताव पर सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा फरवरी, १९४४ ई० को डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जी की अध्यक्षता में आर्य सम्मेलन दिल्ली में प्रायोजित किया गया। इन्द्र जी ने इस सम्मेलन में प्रधानमंत्री का दायित्व उठाया। इस सम्मेलन में एक बड़ा गंभीर प्रस्ताव पारित किया गया और उसमें कहा गया था कि "सत्यार्थ प्रकाश का विरोध वस्तुतः एक मुस्लिम राजनीति की एक चाल है यह ग्रन्थ विगत दिनों में वर्षों से जनता के पास रहा है। आर्य समाज के उत्सवों में यह ग्रन्थ व्याख्यान का विषय बनता है। आर्य समाज के सत्संगों में इसका नित्य पाठ होता रहा है परन्तु देशवासियों के किसी भी भाग की ओर से उस पर आपत्ति नहीं उठाई गई। यह सम्मेलन घोषणा करता है कि सामान्यतः समस्त हिन्दू जगत और

विशेषतः आर्य समाज अपनी इस स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिए कोई कसर नहीं उठा रखेगा और अपना सर्वस्व भी त्याग करने को उद्यत रहेगा। सम्मेलन की यह धारणा है कि मुस्लिम लीग का मुख्य उद्देश्य यह है कि सरकार और आर्य समाज तथा हिन्दू और मुसलमानों के मध्य में गहरा विरोध हो जाए। इस सम्मेलन का विचार है कि मुस्लिम लीग अपने उद्देश्य की पूर्ति में अवश्य विफल होगी। पंडित सत्यकाम विद्यालंकार ने अपनी पुस्तक 'इन्द्र विद्यावाचस्पति' में इस घटना का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। इन्द्र जी की मान्यता थी कि हमारी मातृभूमि कई पुत्रों का बलिदान चाहती है। बलिदान यह नहीं है कि एक क्षण भर की मृत्यु अपितु अपना दीर्घ जीवन मातृभूमि को अर्पित कर दे।

इन्द्र जी गुरुकुल में उपाध्याय बनने से पूर्व दिल्ली में आठ मास तक रहे थे। उन्होंने आर्य समाज, आर्य मित्र सभा, हिन्दू युवक सभा, और नागरी प्रचारिणी सभा में दत्तचित्त होकर कार्य किया था। उस समय हिन्दू युवक सभा के उप-सभापति और नागरी प्रचारिणी सभा के मंत्री चुने गये गये थे। दिल्ली में उनके सामने बृहत्तर समाज था इसलिए उन्होंने अपने कार्यक्षेत्र को व्यापक बनाने का निश्चय किया और कुछ उद्देश्य भी निश्चित किये। इन उद्देश्यों में अपने प्राचीन इतिहास शोध को उन्होंने प्रमुख स्थान दिया।

सन् १९२४ में उत्तर भारत में साम्प्रदायिक उपद्रव प्रारंभ हो गये थे। इन सांप्रदायिक दंगों का दुष्परिणाम सामने आ रहा था। इन्द्र जी उस समय दिल्ली में थे और दिल्ली को शान्त रखने के उपायों में लग गये थे। उन्होंने दोनों सम्प्रदायों के लोगों के मन में व्याप्त प्रतिशोध की भावना को बड़ी सफलता के साथ दबाया और अपने अनुयायियों को नियंत्रण में रखकर कांग्रेस की प्रतिष्ठा को गिरने नहीं दिया। उस समय इन्द्र जी राष्ट्रीय और सामाजिक कार्यों के साथ गुरूकुल के कार्य को भी संभाल रहे थे। उनके राजनीतिक कार्यों का केन्द्र दिल्ली था और समाज सेवा का कार्य गुरूकुल में करते थे। सन् १९४३ में आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब और गुरूकुल में संघर्ष प्रारंभ हो गया। यह संघर्ष सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा तक पहुँच गया। इस विरोध को शांत करने के लिए २८ मार्च, सन् १९४३ ई० को सार्वदेशिक सभा का अधिवेशन बुलाया गया। इस अधिवेशन में इन्द्र जी ने बड़ी योग्यतापूर्वक विरोध को दूर किया और दोनों पक्षों में एकता स्थापित कर दी। जिसके परिणामस्वरूप सर्वसम्मति से उन्हें सार्वदेशिक प्रतिनिधि सभा का मंत्री निर्वाचित किया गया। अपने सामाजिक तथा राजनीतिक कार्यों के साथ वे साहित्यिक तथा भाषा संबंधी कार्यों पर भी नजर रखे हुए थे।

समाज की सेवा में तत्पर इन्द्र जी का कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक था। उन्होंने शिक्षा, संस्कृति, साहित्य आदि विषयों के साथ समाज सुधार के लिए जो कार्य किये वे राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्ति के कार्य थे जिन्हें हम राजनीति के अन्तर्गत रख सकते है। इस प्रकार उन्होंने गुरुकुल कांगड़ी को राजकीय विश्वविद्यालयों द्वारा मान्यता दिलाने का पूरा प्रयत्न किया, न केवल गुरुकुल प्रत्युत आर्य समाज और देश के शिक्षा एवं राजनीतिक क्षेत्र में भी आपकी अमूल्य सेवायें हैं।

साहित्य-सर्जन : विविध विधाएँ

पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति की ख्याति अपने युग के मूर्धन्य पत्रकार के रूप में है। लगभग ३२ वर्ष तक उन्होंने सक्रिय रूप से पत्रकारिता के क्षेत्र में कार्य किया और आधा दर्जन पत्रों का सम्पादन, प्रकाशन और मुद्रण आदि से उनका संबंध रहा। उनमें साप्ताहिक और दैनिक पत्रों की प्रधानता है। दैनिक पत्र में विजय, अर्जुन, वीर अर्जुन, जनसत्ता आदि का उल्लेखनीय स्थान है। अपने पत्रकारिता के युग में पंडित इन्द्र जी का मन साहित्य सर्जन की ओर भी सतत बना रहा किन्तु सर्जक साहित्यकार के रूप में उन्हें वह ख्याति नहीं मिली जो उनकी रचनाओं के आधार पर मिलनी चाहिए थी।

सर्जक साहित्यकार के रूप में उन्होंने जीवनी साहित्य, निबन्ध साहित्य, उपन्यास साहित्य और संस्मरण साहित्य लिखने पर विशेष ध्यान दिया। वैसे उनकी रूचि का विषय इतिहास था। इतिहास को केन्द्र में रखकर उपर्युक्त सभी विधाओं में कुछ न कुछ समाविष्ट किया है। उनकी इतिहास दृष्टि अत्यंत स्वच्छ और स्पष्ट थी। अतः जीवनी या संस्मरण लिखते समय घटनाक्रम को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। हम क्रमशः उनकी साहित्य विधाओं पर संक्षेप में यहाँ विचार प्रस्तुत कर रहे हैं-

जीवनी साहित्य

इन्द्र जी का जीवनी साहित्य उनकी साहित्य सर्जना में विशेष महत्त्व रखता है। जीवनी लिखते समय उन्होंने मात्र घटनाओं का सहारा नहीं लिया वरन् नायक के जीवनानुभव तथा विचारों की प्रौढ़ता को रेखांकित करने का प्रयास किया है। जीवनी की पढ़कर संवेदनशील पाठक को व्यक्ति विशेष का ही परिचय नहीं मिलता वरन् उस युग का पूरा परिवेश भी उभर कर सामने आता है। अब क्रमशः उनकी जीवनी साहित्य की प्रमुख कृतियों का परिचय दिया जा रहा है।

लोकमान्य तिलक और उनका युग

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के जीवन से सम्बंध रखने वाली यह रचना उस युग पुरूष की जीवनी है जिसमें राष्ट्र के तत्कालीन जीवन का इतिवृत्त भी अन्तर्निहित है। लोकमान्य तिलक को विषय बनाकर लिखी गई यह जीवनी लेखक की श्रद्धा और निष्ठा को भी व्यक्त करती है। लेखक की मान्यता थी कि महात्मा गाँधी को स्वराज्य

प्राप्ति के क्षेत्र में जो श्रेय मिला है उसका मूल आधार लोकमान्य तिलक ही थे। साहित्यिक दृष्टि से उनकी यह रचना कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। सम्पूर्ण जीवन चरित्र को उन्होंने ४५ परिच्छिेदों में विभाजित करके लिखा है।

तिलक जी के जन्म से लेकर निर्वाण की बेला तक उनके गौरवशाली जीवन की जानकारी प्रस्तुत की गई है। इस पुस्तक में लेखक ने तिलक महोदय के विचारों को स्थान–स्थान पर उद्धृत किया है। ऐसा करने से जीवनी का महत्त्व बढ़ गया है। लोकमान्य तिलक के जीवन के कुछ ऐसे भाषणों के अंश भी उद्धृत किये गये हैं जो कि आज भी प्रासंगिक है। 'तिलक ने लिखा है' छुआछूत वेदोक्त धर्म के अनुकूल नहीं है। यह प्रथा मध्यकालीन ब्राह्मणों की देन है तथा उनकी जबरदस्ती से ही प्रचलित हुई थी। अब उसे उखाड़ फेंकना चाहिए। अस्पृश्यता को अपने समाज में कायम रखना ईश्वर के सामने पाप करने जैसा है"। इन्द्र जी ने अपने लेखन से चरित्र नायक तिलक का भव्य चित्र अंकित किया है। उसे पढ़कर तिलक जी की छवि नेत्रों के सामने आ जाती है, "माथे पर विचारों की रेखायें थीं, आँखें चेतन और स्थिर थी, ओंठ दृढ़ता से मिले थे और मुद्रा स्तब्ध थी मानों क्रांन्तिकारी पुतला हो। तिलक जी के गुणों और कृतियों की तुलना उन्होंने तत्कालीन अन्य महापुरूषों से भी की है "तिलक और गोखले" शीर्षक इस संबंध में द्रष्टव्य है। तिलक जी के त्याग और बलिदान तथा राष्ट्र को उनकी देन का जो सजीव चित्र इन्द्र जी ने प्रस्तुत किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

पंडित जवाहरलाल नेहरू (जीवन चरित्र)

जीवनी साहित्य की श्रंखला में पंडित जवाहरलाल नेहरू के जीवन को लेखक ने महापुरूषों की कोटि में रखा है। इस पुस्तक का आधार नेहरू जी द्वारा अंग्रेज़ी में लिखित उनका आत्मचरित्र है। इस जीवनी में उन्होंने मात्र ऐतिहासिक तथ्यों को ही वर्णन में शामिल नहीं किया है अपितु नेहरु जी के जीवन के विभिन्न गंभीर और शसक्त पक्षों को भी उद्‌घाटित किया है। प्रस्तावना में इन्द्र जी ने स्वयं लिखा है कि यह जीवनी केवल कहानी नहीं है, बल्कि यह एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी है। जीवन चरित्र को दस अध्यायों में विभक्त किया गया है। नेहरू जी के पूर्वजों का संक्षेप में परिचय लिखकर उन्होंने उनके पिता श्री मोतीलाल का परिचय भी दिया है। नेहरू जी के सार्वजनिक जीवन पर इन्द्र जी ने विस्तार से लिखा है और यह दिखाया है कि महापुरूषों का जीवन व्यक्तिगत न होकर सार्वजनिक हो जाता है किन्तु फिर भी उनके परिवार तथा अन्तरजीवन को जानने की जिज्ञासा लोगों में बनी रहती हैं। नेहरू जी किस प्रकार कांग्रेस कमेटी में आये, प्रतिष्ठित पदों पर आसीन हुए इसका भी वर्णन इस जीवनी में बड़ी सावधानी से किया गया है। दसवें अध्याय में नेहरू जी के कठोर संघर्षों और जेल यात्राओं का भी बड़ी प्राजंल भाषा में वर्णन किया गया है।

२८ फरवरी सन् १९३६ को नेहरू जी की पत्नी श्रीमती कमला नेहरू का निधन हो गया। इस दुख पूर्ण घटना का वर्णन इन्द्र जी ने बड़ी संवेदना के साथ लिखा है "यह देशभक्त पतिपरायणा वीर रमणी २८ फरवरी, १९३६ के दिन इस लोक के बंधनों से मुक्त होकर उस लोक/में चली गई जहाँ सती स्त्रियों का उचित स्थान है। पति के हाथों में प्राण त्याग करना स्त्री का परम सौभाग्य माना जाता है। कमला जी को यह सौभाग्य भी प्राप्त हो गया।"

पुस्तक के परिशिष्ट के रूप में नेहरू जी के कतिपय भाषणों और लेखों को प्रस्तुत किया गया है। इन भाषणों और लेखों में नेहरू जी के भावुक हृदय का परिचय भी देखने को मिलता है। यह लेख नेहरू जी के साहित्यिक पक्ष को भी उजागर करता है।

महर्षि दयानंद

पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति के जीवन चरित्रों में महर्षि दयानंद जी के जीवन चरित्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह जीवनी केवल स्वामी जी की न होकर तत्कालीन समाज और विशेषरूप से आर्य समाज का इतिहास भी प्रस्तुत करती है। इस जीवनी को लेखक ने बीस अध्यायों में विभक्त करके लिखा है। स्वामी जी के प्रारंभिक जीवन के संबंध में जितनी जानकारी सुलभ थी, उस को जीवनी में स्थान दिया गया है। गृहत्याग का वर्णन करते समय दयानंद जी की उत्कट वैराग्य भावना को ही इन्होंने निर्णायक माना है और महर्षि दयानंद के अन्तर्द्वन्द्व को इस प्रकार वर्णित किया है कि मूलशंकर के जीवन में यह समय विषम परिस्थितियों का था। वह एक पहाड़ की चोटी पर खड़े थे, जहाँ एक ओर नीचे उतरने की शाही सड़क बनी हुई थी तो दूसरी ओर जिस चोटी पर वह खड़े थे वहाँ से विविध चोटियाँ दिखाई देती थी। बीहड़ जंगल था, कंटीली पगडंडियाँ थी, और नुकीले पत्थर थे। शाही सड़क पर होकर नीचे उतरने का कार्य बड़ा सुगम था, परन्तु दूसरी ओर जाना जान को खतरे में डालना था। सरल मार्ग मृत्यु लोक को जाता था। विश्वासी जीव कहते हैं कि दूसरी ओर की चोटियों पर अमर लोक है, परन्तु वह किसी ने देखा नहीं। उद्देश्य संदिग्ध, मार्ग विकट और नया इससे अधिक और विषम समस्या क्या हो सकती है।" परन्तु मूलशंकर ने विषम मार्ग को ही चुना और स्वामी पूर्णानंद सरस्वती से संन्यास ग्रहण कर मूलशंकर से स्वामी दयानंद बन गया। उस समय की परिस्थितियों और राष्ट्र को जाग्रत करने का संकल्प दोनों के बीच द्वन्द्व था। इन्द्र जी ने उस समय का वर्णन निम्नांकित शब्दो में किया है, "भारत देश अज्ञान तथा पराधीनता सभी शत्रु और दुख के कारण सभी ओर कांटेदार झाड़ियों से भरा हुआ खांडववन के समान दुर्गम और बीहड़ हो रहा था। उसे आवश्यकता थी एक अर्जुन की जो एक ओर अरणियों की रगड़ से आग निकाल कर

दावानल को प्रज्ज्वलित करे ओर दूसरी ओर आग बुझाने का यत्न करने वाली देवों और असुरों के आक्रमण का उत्तर भी दे सके। आर्य जाति की दुर्दशा उस समय एक सुधारक को बुला रही थी। एक ऐसे पारखी को बुला रही थी जो उसके पीड़ित अंगों पर शांति देने वाला हाथ रख सके।" इन्द्र जी ने महर्षि दयानंद के समस्त भारत में सुधार कार्यों का विस्तार से वर्णन किया है। १०. अप्रैल, १९७५ ई० को उन्होंने बम्बई आर्य समाज की विधिवत स्थापना की। ३० अक्टूबर, सन् १८८३ ई० को सांयकाल ७ बजे महर्षि दयानंद ने यह पार्थिव शरीर त्याग दिया। इस जीवनी में लेखक ने उन विद्वानों की सम्मतियां भी दी हैं जो स्वामी जी के विषय में उस समय में प्रचलित थी।

महावीर गैरीवाल्डी

इस जीवनी को लेखक ने तीन भागों में विभक्त करके लिखा है। पहले भाग में देशभक्ति की भावना को बड़े ओजस्वी शब्दों में चित्रित किया गया है। दूसरी ओर दूसरे भाग में उन प्रयत्नों का वर्णन है जो देश की स्वाधीनता के लिए गैरीवाल्डी ने किये थे। तीसरे भाग में गैरीवाल्डी के प्रयत्नों और स्वाधीनता प्राप्ति का वर्णन है। गैरीवाल्डी की जीवनी लिखने के पीछे इन्द्र जी का एक महत उद्देश्य था जो कि उन्होंने इन शब्दों में व्यक्त किया है, "हे भारत के देश-भक्तों यूरोप के व्यापार भक्तों का अनुकरण करना छोड़कर सच्चे भक्त गैरीवाल्डी के पथानुगामी बनो, स्वार्थ से सने देश प्रेम का पाठ छोड़कर स्वार्थ त्याग युक्त देश भक्ति की माला जपो तभी, मातृभूमि के दुख दूर होंगे और हमारी आशाएँ पूर्ण होगी।" गैरीवाल्डी के शैशवावस्था का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है, "मेरा मन पढ़ने लिखने में नहीं लगता था। घुड़सवारी, तैराकी, तलवार चलाना आदि मेरे प्रिय मनोविनोद थे।" उसकी वाल्यावस्था इसी प्रकार के खेल-कूद में व्यतीत हो गयी। एक बार अपने पिता के साथ गैरीवाल्डी रोम गये और उनके हृदय में सहसा यह भाव जागा कि यह मेरी चीज है। और उन्हें जोसफ मेजिनी नामक व्यक्ति मिले जो परम देशभक्त थे। मेजिनी से मिलने के बाद वे रोम गये और रोम का फ्रान्स पर उस समय आक्रमण हुआ था। गैरीवाल्डी ने फ्रान्सीसी सेना का मुकाबला किया और फ्रान्स की सेना को भगा दिया। गैरीवाल्डी की इच्छा रोम को स्वतंत्र देखने की थी किन्तु जब वह रोम पहुँचा तो उसे बंदी बना लिया गया। यद्यपि गैरीवाल्डी अपने अभीष्ट को प्राप्त नहीं कर सका, किन्तु उसका संघर्ष इन्द्र जी ने बड़ी उत्साह और उमंग की भाषा में अंकित किया है। उन्होंने लिखा है कि "गैरीवाल्डी अपने जीवन से एक दृष्टान्त स्थापित कर गया जो युग-युगों तक नहीं भुलाया जा सकता है। जब तक चांद और सूर्य प्रकाश देते रहेंगे तब तक मनुष्य रूपी सूर्य गैरीवाल्डी का यश धूमिल नहीं हो सकता है"। इस जीवनी की भाषा स्थान-स्थान पर भावुकतापूर्ण

तथा रोमांचक हो गई है। पाठकों के मन में इसे पढ़कर देशभक्ति और मानव प्रेम के भाव उमड़ने लगते हैं।

अमर शहीद जतीन्द्रनाथ

अमर शहीद जतीन्द्रनाथ दास की जीवनी भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। यह भारत के एक सच्चे सपूत का जीवन चरित्र है। इस जीवनी को पढ़कर देशभक्ति की प्रेरणा मिलती है। इन्द्र जी ने बड़ी भावुकता पूर्ण भाषा में जतींद्र का स्मरण किया है। जतीन्द्र को अंग्रेज़ों ने फांसी देकर समाप्त भले ही कर दिया हो, लेकिन उसकी देशभक्ति की भावना सदा अमर रहेगी। इन्द्र जी लिखते हैं कि "देश के दुलारे जतीन्द्र तुम मरे नहीं हो, तुम जीवित हो, जो तुम्हें मरा हुआ समझते हैं वे भूल करते हैं। मरते तो वे हैं जो अपने लिए जीते हैं, जो दूसरों के लिए जीते हैं वे कभी नहीं मरते है और जो जीए भी दूसरों के लिए और मरे भी दूसरों के लिए वे तो कभी मर ही नहीं सकते। वे तो सदा के लिए जीवित हो जाते हैं। देश के यज्ञकुण्ड में बलि चढ़ाने वाले दास तुम उसी कोटि में हो ।" जतीन्द्रनाथ ने ब्रिटिश शासनकाल में अनेक प्रकार की यातनायें सही। ८ अप्रैल, १९२९ को दिल्ली की एसैम्बली में बम फेंकने की घटना हुई और १३ जून, सन् १९२९ को इसी संदर्भ में भूख हड़ताल पर बैठ गये और दो मास की लम्बी भूख-हड़ताल ने इस वीर ने पृथ्वी से नाता तोड़ लिया। इन्द्र जी ने इस घटना का बहुत ही रोमांचक शैली में वर्णन किया है वे लिखते हैं कि "हे अग्नि के पतंगे तुम तो जल गये, पर गजब कर गये इस सूखे हुए जंगल में आग लगा गये। जलियांवालाबाग ने वह आग नहीं लगाई थी जो तुमने लगा दी, तुमने अपनी कुर्बानी से जो आग लगाई वह आसानी से नहीं बुझेगी, वह ऐसी धधकेगी कि उसकी ज्वालाओं की ज्योति लंदन के पार्लियामेन्ट के हाल पर दिखेगी। इसकी तपिश किंग जार्ज की आरामगाह में पहुँच कर वहाँ के निवासियों को बैचेन कर देगी। तुम चले गये राज्य मद में मस्त अंग्रेज शासकों के मुंह पर लात मारकर, इस संसार के अत्याचारियों को अंगूठा दिखाकर देश के कुकर्मों से उत्पन्न हुई दासता को पांव तले रौन्दकर तुम उस स्थान पर चले गये जहाँ न स्वाभिमानी शासकों का हाथ पहुँच सकता है और न ही अत्याचारी का जाल फैल सकता है"। इस जीवनी में इन्द्र जी की निर्भीक भावना को सर्वत्र लक्षित किया जा सकता है।

पंजाब केसरी लाला लाजपतराय

लाला लाजपतराय की जीवनी ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। लाला लाजपतराय जी के व्यक्तित्व का चित्र प्रस्तुत करते हुए इन्द्र जी ने लिखा है कि "समुद्र के पानी के समान अथाह, हिमालय की चोटियों के समान उत्तुंग, सूर्य के प्रकाश के

समान दैदीप्यमान और वायु के वेग के समान अप्रतिम कीर्ति वाले महापुरूषों की जीवनी प्रकाश स्तम्भ का कार्य करती है"। लाला लाजपतराय जी का व्यक्तित्व हिमालय के उत्तुंग शिखर के समान ही था। हजारों लाखों में से एक नरपुंगव ऐसा निकलता है। लाला लाजपतराय के जीवन के क्रमिक विकास को लेखक ने बड़ी सुन्दरता के साथ चित्रित किया है। लाला जी के मन में समाज के उत्थान की तथा देश की स्वतंत्रता की जैसी उत्कट इच्छा थी, वह उन्हें सदैव सामाजिक एवं राजनीतिक कार्यों में सलंग्न रखती थी। लाला जी ने अपने विषय में लिखा है "मैं इंग्लैंड गया हूँ, फ्रान्स गया हूँ और यूरोपीय तथा अन्य देशों तथा अमेरिका में भी गया हूँ, किन्तु जहाँ कहीं भी गया हूँ एक पराधीन जाति की लज्जा सदा मेरे साथ रही है"। लाला लाजपतराय जी अमरीका में पाँच वर्ष रहे। अमरीका में लाला जी ने सबसे बड़ा काम प्रवासी भारतीयों को संगठित कर भारत की स्वतंत्रता के लिए आंदोलन करने के लिए उत्साहित किया। लाला जी के कार्यों में दलितोद्धार का कार्य, अकाल पीड़ितों की सेवा, भूकम्प पीड़ितों की सहायता आदि प्रमुख कार्य हैं, उन्होंने इन्हीं कार्यों का आदर्श माना है।

जीवन ज्योति

'जीवन ज्योति' शीर्षक जीवनी एक व्यक्ति की जीवनी न होकर भारत के १३ महापुरुषों की जानकारी देनी वाली पुस्तक है। इसमें पौराणिक, ऐतिहासिक तथा समकालीन महापुरुषों की जीवनी लिखी गई है। सबसे पहले मर्यादा पुरूषोत्तम भगवान श्री राम, योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण, तथागत भगवान बुद्ध, गुरु नानक देव जी, महर्षि स्वामी दयानंद जी, इसके पश्चात दो साहित्यकारों का जीवन परिचय लिखा गया है ये व्यक्ति हैं मुन्शी प्रेमचन्द और रवीन्द्रनाथ ठाकुर। प्रेमचन्द को उन्होंने राष्ट्रीय स्तर का साहित्यकार माना है। पहले वे उपन्यासकार के रूप में इन्द्र जी के आदर्श थे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की साहित्यिक विशेषताओं का उन्होंने विस्तार से वर्णन किया है। इन्द्र जी के अनुसार कविवर रवीन्द्र का व्यक्तित्व सार्वभौमिक स्तर का था। "टैगोर का व्यक्तित्व ऐसी परम्परा में था जिसमें धर्म, दर्शन आदि सब का सहज मिश्रण था। इसके बाद उन्होंने दो वैज्ञानिकों का भी जीवन परिचय लिखा है। वे व्यक्ति हैं डा० शन्तिस्वरूप भटनागर, और आचार्य चन्द्रशेखर वेंकटरमन। आचार्य चन्द्रशेखर वेंकटरमन में वैज्ञानिक प्रतिभा थी और इसी प्रतिभा को इन्द्र जी ने अपने लेख में उभारा है। राष्ट्रीय महापुरूषों की जीवन भी उन्होंने इस 'जीवन ज्योति' में अंकित किया है। झांसी की रानी लक्ष्मीबाई और महात्मा गाँधी तथा डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, पंडित जवाहरलाल नेहरू आदि की जीवनी भी जीवन ज्योति में लिखी गई हैं। ये वर्णन संक्षिप्त किन्तु सारतत्व से परिपूर्ण है। इन्द्र जी ने इन जीवनियों में सारतत्व को प्रमुख स्थान दिया है ताकि नायक का चरित्र और उसकी विशेषतायें पाठक के सामने आ जाये। इस दृष्टि से यह 'जीवन ज्योति'

बहुत ही सुपाठ्य जीवनी बन गई है। उपर्युक्त जीवनी के अतिरिक्त इन्द्र जी ने अपने विद्यार्थी जीवन में ही प्रिन्स बिस्मार्क और महान नेपोलियन बोनापार्ट की जीवनी भी लिखी थी। इस जीवनियों को लिखने का उद्देश्य युवकों में देश प्रेम के साथ त्याग और बलिदान की भावना भरना था। प्रिन्स बिस्मार्क का जीवन स्वदेश के लिए अर्पित जीवन था जो इन्द्र जी को बहुत आकर्षक लगता था। इसी प्रकार नेपोलियन भी अपने युग का एक महान योद्धा था, और उसने एक बार विश्व विजय की भी कामना की थी किन्तु युद्ध में पराजित होकर उसे भी जीवन में दुर्दिन देखने पड़े थे।

भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद की जीवनी "कर्म योगी डॉ० राजेन्द्र प्रसाद" शीर्षक से आत्माराम एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली से प्रकाशित हुई थी। इस जीवनी में राजेन्द्र बाबू का एक ऐसा चित्र प्रस्तुत किया गया है जो उन्हें एक ग्रामीण कृषक के रूप में पाठक के सामने प्रस्तुत करता है।

उपन्यास साहित्य

पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति के प्रकाशित उपन्यासों की संख्या छः है। इनके शीर्षक इस प्रकार है **'शाह आलम की आँखें', 'जमींदार', 'अपराधी कौन', 'सरला', 'सरला की भाभी'** और **'आत्मबलिदान'**।

'शाह आलम की आँखे' इन्द्र जी का पहला उपन्यास है। यद्यपि इतिहास का आधार होने पर भी इन्द्र जी ने इसमें कल्पना का प्रचुर मात्रा में उपयोग किया है। 'हेनरी जार्ज' के द्वारा रचित 'मुगल एम्पायर' से इन्द्र जी ने ऐतिहासिक आधार लिया है। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में इस उपन्यास की रचना का उद्देश्य यह था कि भारतवासियों के मन में जागरण की चेतना का स्फुरण हो। इस उपन्यास की घटनाएं १७८० ई० के आसपास की है। सभी घटनाएं इतिहासपरक न होकर कल्पना पर भी आश्रित है। सुल्तानपुर नामक गाँव का निवासी तेजसिंह अपने गाँव के निवासी गुलाब सिंह की पुत्री कमला से प्यार करने लगता है। उसी गाँव में बसंतोत्सव के समय शाह आलम का आगमन होता है। शाह आलम कमला को देखकर उस पर मुग्ध हो जाता है और गुलाब सिंह से अपनी पुत्री कमला को सौंपने के लिए कहता है। तब शाह आलम के अनुचर कमला का अपहरण कर लेते हैं किन्तु कमला एक सावधान लड़की थी और वह मार्ग में ही पलायन कर जाती है। शाह आलम ने अपने अनुचर गुलाम कादिर को, नाराज होकर किले से बाहर निकाल दिया। तेजसिंह कमला के अपहरण से क्षुब्ध होकर शाह आलम के विरूद्ध कह उठता है कि वह विदेशी है। जब तक वह मेरे देश की स्वाधीनता पर बन्धन डालेगा वह मेरा शत्रु है। तेजसिंह की उदयपुर

के राणा प्रताप सिंह और जोधपुर के विजयसिंह से भेंट होती है। और ये सब युद्ध में तत्पर हो जाते हैं किन्तु तेजसिंह आकस्मिक घटना का शिकार होकर एक देवालय में शरण लेता है। जहाँ कमला इसकी परिचर्या करती है। कमला गुलाम कादिर के चुंगल से निकल आई थी और वह तेजसिंह की सेवा के बाद साधु का वेश धारण कर देश में जन जागरण के लिए घूमने निकलती है। दूसरी ओर गुलाम कादिर का शाह आलम के प्रति षडयंत्र सफल हो जाता है, और वह शाह आलम को बंदी बनाकर स्वयं राजगद्दी का स्वामी बन जाता है। शाह आलम के प्रति उसका विद्रोह बहुत ही भीषण है। वह शाह आलम के प्रति घोर अत्याचार करता है और उसकी आँखें फोड़ डालता है और उसके परिवार तथा बच्चों तथा युवतियों के साथ अनाचार करता है। गुलाम कादिर के इस कुकृत्य की चर्चा सर्वत्र फैलती है। तेजसिंह और कमला यह सुनकर सैनिक एकत्र करते हैं और लाल किले पर आक्रमण कर देते है। गुलाम कादिर किले से भाग निकलता है और दंड भी पाता है। तेजसिंह और कमला के मिलन के साथ ही उपन्यास की यह कथा समाप्त होती है।

इस उपन्यास में लेखक ने कई स्थानों पर प्राकृतिक दृश्यों का बहुत ही सुन्दर शैली में वर्णन किया है। बसंत पंचमी का वर्णन तो श्रंगार और संगीत के सुन्दर दृश्यों से भरा हुआ है। इसी उपन्यास में अपने देश की रूढ़ियों का भी वर्णन किया है और रूढ़ियों से मुक्ति पाने के लिए उन्होंने उद्बोधन के भी संदर्भ जोड़े हैं।

उस समय के ऐतिहासिक संघर्षों और सामंतों की कुत्सित मनोवृत्ति, वासनामय जीवन और शासकों के व्यवहार की मनमानी का विस्तार से वर्णन किया है। तेजसिंह का वर्णन उन्होंने बहुत स्वाभिमानी व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है। इस व्यक्ति के माध्यम से उन्होंने भारतीय जनता को जाग्रत करने का संदेश दिया है। मुगलों का सम्राट शेरसिंह उनके साथ था किन्तु वह उसे पसंद नहीं करता है। उन्होंने उसे फटकारते हुए कहा है कि "तुम मुसलमानों का आधिपत्य सह सकते हो मैं उसे नहीं सह सकता, तुम मुसलमानों के अधीन रहकर उसे पाना उपादेय वस्तु समझते हो, मैं उसे अत्यंत घृणा की दृष्टि से देखता हूँ। इतना ही नहीं तेजसिंह कमला से अपने विवाह की तिथि को भी तब तक टालना चाहता है जब तक वह गुलाम कादिर को दंड न दे ले। कमला के चरित्र चित्रण में भी लेखक ने उच्च कोटि की भावना का वर्णन किया है। वह गुलाम कादिर की पालकी से भागकर तेजसिंह की प्राप्ति के लिए पुरूष वेष धारण करती है और जंगलों में भागती रहती है। इस वीरांगना के माध्यम से इन्द्र जी ने राष्ट्रोत्थान में सहयोग देने वाली नारियों के लिए पथप्रशस्त किया है। चूंकि वह एक ऐतिहासिक उपन्यास है इसलिए इतिवृत्तात्मक शैली तो है किन्तु इस शैली की नीरसता को दूर रखने के लिए हास्य और विनोद का पुट भी इसमें जोड़ दिया है।

इस उपन्यास को पढ़ते समय पाठक के सामने अनेक प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं। शौर्य, वीरता, उत्साह, ओज, आक्रोश, घृणा आदि विभिन्न भावों से भरा हुआ यह उपन्यास साधारण पाठक को भी आकर्षक लगता है। "शाह आलम की आँखे" शीर्षक देने से कुछ भ्रम भी होता है। इसका नायक कौन है? क्योंकि शाह आलम को नायक नहीं माना जा सकता है। उसका तो गुलाम कादिर द्वारा वध कर दिया जाता है और उसकी आँखें फोड़ डाली जाती है। यदि कथा की दृष्टि से विचार किया जाए तो तेजसिंह या गुलाम कादिर को ही नायक माना जा सकता है। उपन्यास की भाषा प्रांजल और परिष्कृत नहीं होने पर भी पढ़ने में सरल है। इस उपन्यास के प्रणयन के समय तक इन्द्र जी के लेखन में वैसा सौष्ठव और चारूत्व नहीं आया था जैसा की बाद में लक्षित होता है।

इन्द्र जी का दूसरा उपन्यास **'जमींदार'** शीर्षक से है। यह एक सामाजिक उपन्यास है और उसका कथानक भी काल्पनिक है। इसकी रचना का काल वह है जब भारत में जमींदारी प्रथा व्याप्त थी और नारियों की स्थिति बहुत ही दयनीय थी। जमींदार को छोड़कर गाँव के अन्य सभी लोग कष्ट में जीवन व्यतीत करते हैं। ग्रामीणों के इस कष्ट की कथा को लेखक ने बड़ी संवेदना के साथ लिखा है। कथा में तुलसी नामक एक चमार है जो बिरादरी में प्रतिष्ठित माना जाता है। उसके दो लड़के थे बिन्दु और भज्जु। दोनों सड़क के किनारे गुलर के पेड़ के नीचे रोटी खा रहे थे। उसी समय तेज रफ्तार से आती एक लारी बिन्दु को कुचलती हुई निकल गई। इस लारी ने बिन्दु की जान ले ली थी। इस लारी का चालक बीरगढ़ के जमींदार रूपचंद का ड्राईवर था। उसके यहाँ लड़की की शादी थी और बारात का आगमन हो रहा था, उसी समय ग्राम के कुछ लोग बच्चे की लाश लेकर जमींदार के घर पहुँचे। जमींदार उनसे मिलने घर से बाहर नहीं निकला। उसने क्रूर स्वाभाव वाले अपने लठैतों को भेजा, जिन्हें देखकर गाँव वाले भाग गये। उस बच्चे का पिता तुलसी भी अपने बच्चे की लाश छोड़कर भाग जाता है। रूपचंद का नौकर जहूर बच्चे की लाश को एक पेड़ के नीचे दफना देता है। गाँव वाले पुलिस की शरण में जाते है किन्तु पुलिस वाले भी रूपचंद से डरते थे क्योंकि वह एक प्रभावशाली व्यक्ति था। तुलसी भयभीत होकर अपना गाँव छोड़कर बेटी की ससुराल भागलपुर चला जाता है। उसकी बेटी भागलपुर की रानी दयावती के यहाँ पशुओं की देखभाल करती है। रानी दयावती के साथ रूपचंद का मनमुटाव था। जब रूपचंद को यह पता लगा कि तुलसी को रानी दयावती ने शरण दी है तो वह आग-बबूला होकर उससे बदला लेने के लिए तुलसी के गाँव को ही जला देता है। गाँव वालों और रूपचंद के बीच राजा रामचन्द नाम का व्यक्ति मध्यस्थता

का प्रदर्शन करता है, किन्तु वह इतना चतुर है कि न तो रूपचन्द को आराम से बैठने देता है और न ही गाँव वालों को। राजा रामचन्द्र ने अपनी कपट बुद्धि से तुलसी को रूपचंद के फंदे मे फंसा दिया। उस पर चोरी का आरोप लगाकर रूपचन्द, तुलसी को जेल में भिजवा देता है और उसके भाई सुशियां को धोखे से मार डाला जाता है। रानी दयावती और रूपचंद का टकराव तो निरन्तर चलता रहता है। दयावती का देवर गजेन्द्र सिंह और राजा रामसिंह भी रूपचंद से मिलकर दयावती के विरूद्ध षडयंत्र रचते हैं। दयावती के पति का मित्र रिपुदमन सिंह दयावती की सेवा करता है। फलतः रिपुदमन सिंह और रूपचंद आदि में शत्रुता उभरती है। रिपुदमन सिंह बहुत ही क्रोधी व्यक्ति है वह रूपचन्द के किसी भी अपशब्द को सहन नहीं कर सकता। उधर रूपचंद भी भड़क उठता है और रिपुदमन से कह देता है कि मैं तुम्हारे चेहरे पर नाक का भी निशान नहीं रहने दूंगा। रिपुदमन सिंह भी आवेश में उत्तर देता है कि आज से आठवें दिन के भीतर यदि रूपचंद जिन्दा रहा तो मैं अपने हाथ से अपनी नाक काट दूंगा। इस प्रकार रिपुदमन और तुलसी घात लगाकर जहूर और रूपचंद को काट डालते है। इस उपन्यास में रूपचंद, गजेन्द्रसिंह, राजाराम सिंह, रिपुदमन सिंह, दयावती और तुलसी ही मुख्य पात्र है।

इन पात्रों को हम दो वर्गों में बाँट सकते हैं। एक वर्ग जमींदार वर्ग से संबंधित है और दूसरा मजदूर वर्ग से : लेखक ने रूपचंद के स्वभाव का बहुत विस्तार से वर्णन किया है। वह एक क्रोधी, अत्याचारी, अन्यायी और स्वार्थी व्यक्ति है और वह ग्रामीणों को मनुष्य भी नहीं समझता। उसे काश्तकारों के घरों में आग लगाने में भी भय नहीं है। खेतों में खड़ी फसल को कुर्क करवा लेता है। इस अहंकारी व्यक्ति के मन में भी कभी–कभी मनुष्यता जागती है। महिला चरित्रों में रानी दयावती का चरित्र उल्लेखनीय है। पति के दिवगंत हो जाने पर भी वह अपनी जमींदारी का प्रबंध स्वयं करती है। नारी होते हुए भी उसमें पुरूषोचित गुण भरे है। प्रजा के सुख के लिए वह सभी कुछ करने को तत्पर रहती है। शरणागत के प्रति उसका भाव दयामय है। वह रूपचंद जैसे व्यक्ति को भी अपने संयत व्यवहार से परास्त कर देती है। वह सज्जन व्यक्तियों की परम हितैषिणी और दुष्ट व्यक्ति के लिए साक्षात दुर्गा जैसी नारी है।

राजा रामसिंह और रिपुदमन सिंह भी जमींदार वर्ग से संबंधित पात्र है। रिपुदमन सिंह तो रानी का भक्त है। वह कठिन से कठिन परिस्थिति में भी दयावती का साथ नहीं छोड़ता है। वह रानी दयावती को माँ के सदृश आदर प्रदान करता है। मित्र के रूप में रिपुदमन सिंह एक आदर्श मित्र है। राजा रामचन्द्र भी जमींदार वर्ग का एक प्रतिनिधि है और एक स्वार्थपरायण व्यक्ति है। अपने हित साधन के लिए वह जमींदार

और उसकी प्रजा में कलह उत्पन्न करवा देता है। वह रूपचंद और गाँव वालों के बीच मध्यस्थता करने का जाल बिछाकर दोनों के बीच वैमनस्य के वातावरण को बढ़ाता है। वैसे वह ढोंग और पाखंड में भी परायण है। मंदिर में जाकर घंटा भी बजाता है और आर्य समाज के उत्सवों में शरीक होकर वैसी ही बातें करता है।

लेखक ने पात्रों के चरित्र चित्रण में अनेक प्रकार की भावनाओं एवं विचारधाराओं का वर्णन किया है। इसे पढ़कर लगता है कि आज से ७५ वर्ष पहले हमारे देश में जमींदारी प्रथा की क्या भूमिका थी और किस प्रकार जमींदार लोग नृंशस और अत्याचारी होकर जनता को पीड़ा पहुँचाते थे। उपन्यास के कथोपकथन पात्रानुकूल, संक्षिप्त और सरल तथा विषय से संलिष्ट है। संवाद प्रवाहपूर्ण है। वातावरण योजना लेखक ने आंचलिकता के पुट के साथ की है। तत्कालीन देशकाल की सभ्यता और सांस्कृतिक चेतना के अनुसार वहाँ वातावरण की अवतारणा की है। इस उपन्यास का उद्देश्य तत्कालीन सामाजिक स्थिति को उजागर करना और जमींदारों के अत्याचारों से पीड़ित जनता को जागृत करना कहा जा सकता है।

अपराधी कौन

'अपराधी कौन' उपन्यास के मुखपृष्ठ पर लेखक ने उपन्यास के उद्देश्य को स्पष्ट करने के लिए एक पंक्ति लिखी है। "हे भारत के अभागे गरीब यह तेरी दुखः कहानी तेरे ही चरणों में समर्पित करता हूँ।" इस सम्बोधन में भारत के गरीब अर्थात शोषित पीड़ित मजदूर वर्ग को ही संबोधित किया गया है। इस उपन्यास में नायक एक मजदूर है ; जिसका नाम है उमेद और उपन्यास की अधिकांश घटनायें राजधानी दिल्ली, पंजाब और जेल में घटती है। लेखक का इन स्थलों से परिचय है अतः वर्णन में सर्वत्र प्रामाणिकता बनी रही है। उमेद नामक व्यक्ति मजदूरों का प्रतिनिधि है। उसकी जीवन गाथा करूणा भरी कहानी है। उपन्यास को पढ़कर पाठक के मन में पूंजीपति वर्ग के प्रति घृणा उत्पन्न होती है वहीं सरकारी वर्ग के प्रति विद्रोह का भाव उत्पन्न होता है। सरकार का शासन अन्याय, अत्याचार और उत्पीड़न का ही माध्यम है। मजदूर वर्ग इस प्रकार की बुराइयों में फँसा हुआ है और आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से कष्टमय जीवन व्यतीत कर रहा है। उन सब बुराइयों का वर्णन गूढ़ता के साथ इस उपन्यास में किया गया है।

उमेद एक मजदूर परिवार का व्यक्ति है। उसके पिता की मृत्यु शराब पीकर हुई थी। उस समय उमेद ६ वर्ष का बालक था। उमेद की माँ अनारो उसी मिल में नौकरी कर लेती है जिसमें उसका पति नौकरी करता था। अनारों एक अशिक्षित, साधनहीन,

निर्धन मजदूर महिला होने से वह अपने बच्चे उमेद को किसी स्कूल में भेज कर शिक्षा नहीं दिला सकी। फलतः उसका बेटा स्वच्छन्द वातावरण में निरकुंश जीवन व्यापन करने लगता है। यद्यपि शरीर से स्वस्थ और तीव्र बुद्धि बालक था किन्तु उसे किसी का मार्गदर्शन नहीं मिला। अतः वह आवारा बच्चों के बीच में रहकर उस मंडली का नेता बन गया और शनैः शनैः उद्दण्ड होता गया। इसी बीच उसकी माँ बीमार हो गई और तीन महीने तक खाट पर पड़ी रही। अपनी उद्दण्डता के कारण उमेद भी पुलिस की चपेट में आ गया और उसे कोतवाली में रहना पड़ा। जब अनारों को अपने बेटे के विषय में पता लगता है तब वह पुलिस के दरबार में पहुँचती है और अपने बेटे को देखने की इच्छा व्यक्त करती है। किन्तु पुलिस के लोग उसके साथ बुरा व्यवहार करते हैं और वह अपने बेटे से नहीं मिल पाती है। उमेद को तीन मास की जेल की सजा हो जाती है। और जेल में वह अमानवीय अत्याचारों से पीड़ित रहकर अपने भावी जीवन का कोई मार्ग तय नहीं कर पाता। जेल से छूटने पर जब घर आता है तब उसे अपनी माँ की मृत्यु का समाचार मिलता है। वह समझ नहीं पाता है कि अब क्या करें। माँ का वियोग उसको पीड़ित करता है और घूम-फिर कर उसी मिल में मजदूरी करने लगता है। मिल में कार्य करते समय उसका परिचय एक श्यामा नाम की स्त्री से होता है। श्यामा एक गरीब विधवा थी। वह श्यामा की माँ की सेवा करता है, श्यामा की माँ उसे पुत्रवत स्वीकार कर लेती है। किन्तु इसी बीच मिल का खजांची श्यामा की गरीबी का लाभ उठाकर उसे अपनी वासना की तृप्ति का साधन बनाता है। उमेद खजांची के षडयंत्र में फंसकर नौकरी से निकाल दिया जाता है और श्यामा से भी उसका वियोग हो जाता है। तब उमेद विद्रोही हो जाता है। अपने जीवनयापन के लिए कोई और मार्ग नहीं देख कर वह डाकू मानसिंह के सम्पर्क में आकर डाकू हो जाता है। इस परिवर्तन के बाद भी वह श्यामा को नहीं भूलता है। खजांची उमेद का इरादा समझ गया था इसलिए उसने श्यामा को अपनी वासना का शिकार बनाया और डाकू उमेद सिंह को इस हत्या के लिए अपराधी करार दे दिया। उमेद सिंह पकड़ा गया और उसे आजन्म कैद की सजा हुई। जेल में जाकर उसे कठोर यातनाओं का सामना करना पड़ रहा था। रहमतुल्ला नामक व्यक्ति जो जेल का जमादार है उमेद की गला घोंटकर हत्या कर देता है। किन्तु भेद खुलने पर रहमतुल्ला को भी फांसी हो जाती है।

उपन्यास के लेखक इन्द्र जी का ध्यान उपन्यास के शीर्षक पर सतत बना रहा है। उपन्यास में पात्रों की भरमार नहीं है किन्तु उमेद का कोई अपराध नहीं होने पर भी उसे जेल भोगनी पड़ती है। जेल की यातनायें सहनी पड़ती है और अंत में रहमतुल्ला

के द्वारा मृत्यु का शिकार होना पड़ता है। ये सारी घटनायें इस बात पर प्रकाश डालती है कि शोषित पीड़ित मजदूर वर्ग का कोई रक्षक नहीं होता और निरपराध निर्दोष होते हुए भी उसे इस प्रकार की यातनाओं को भोगना पड़ता है।

यह उपन्यास कल्पनाश्रित है किन्तु एक ऐसे तथ्य पर प्रकाश डालता है जो कि आज के सामाजिक जीवन का अभिशाप बना हुआ है। इस उपन्यास के संवाद बहुत सरल और प्रवाहपूर्ण है। ऐसा लगता है जैसे सामने बैठा व्यक्ति बातें कर रहा हो। समाज द्वारा प्रदत्त जेल की यातनाओं का वर्णन तो बहुत ही सजीव शैली में किया गया है। इन्द्र जी ने उमेद और श्यामा के वर्णन में वास्तविक जीवन का चित्र प्रस्तुत किया है। मजदूर के जीवन में शोषण तथा राजनीतिक पुरूषों के स्वार्थपरायण कार्य, शिक्षा का अभाव, चारित्रिक कमजोरी, घोर निर्धनता आदि पर प्रकाश डाला गया है। प्रश्न यह हैं कि अपराधी कौन है? वे जो अपराध करते हैं, या जिन्होंने किसी को अपराध करने के लिए विवश किया है। यह आधारभूत प्रश्न है जो हमारी सामाजिक व्यवस्था को स्पष्ट करता है और एक प्रश्नवाचक चिन्ह समाज के सामने लगा देता है। मजदूर के रूप में कारखानों और मिलों में काम करने वाले व्यक्तियों के चरित्र में किस प्रकार की दुर्बलताएं होती है और किस प्रकार उनका मनोबल नष्ट कर दिया जाता है यह भी इस उपन्यास में चित्रित किया गया है। इसे हम एक यथार्थवादी उपन्यास कह सकते हैं। यद्यपि यह कल्पनाश्रित उपन्यास है किन्तु कल्पना का क्षेत्र यथार्थ से दूर नहीं है। अतः इस उपन्यास को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से एक सफल उपन्यास कहा जा सकता है।

'सरला' और 'सरला की भाभी' शीर्षक से दो उपन्यास वास्तव में एक दूसरे के पूरक है। यह कहना भी असंगत नहीं होगा कि तीसरा उपन्यास "आत्म बलिदान" भी इसी कथनानक को आगे बढ़ाने वाला उपन्यास है। इस तीसरे उपन्यास में नारी की दयनीय दशा का वर्णन किया गया है। पुरूष ने नारी के प्रति जो रूख अपनाया है वह शास्त्रों में तो कुछ और है किन्तु व्यवहार में उसका रूप नितांत परिवर्तित है। शास्त्रानुसार तो नारी पूज्य देवी के समान है और कहा गया है कि जहाँ नारी की पूजा होती है उस देश में देवता विचरण करते हैं। किन्तु स्थिति सर्वथा प्रतिकूल लक्षित होती है। अमानुषिक व्यवहार करते हुए भी पुरूष अपने कर्तव्य से परान्मुख रहता है। भारतीय नारी की विशेषता यह है कि वह पीड़ित, शोषित और अपमानित होने पर भी अपनी कर्तव्यपरायणता से विमुख नहीं होती है।

सरला की भाभी उपन्यास की रचना सोद्देश्य की गई है, और इसमें वर्णित

घटना को भी किसी विशेष कारण से प्रस्तुत किया गया है। इस उपन्यास की नायिका चम्पादेवी 'सरला की भाभी' अर्थात् माँ है। वकील गोपीशरण जमींदार की वह एकमात्र पुत्री है। १५ वर्ष की अल्पायु में उसका विवाह गोपाल कृष्ण से होता है। गोपाल कृष्ण सम्पन्न जमींदार परिवार से संबंधित है और बैरिस्ट्री करने के लिए विलायत जाना चाहता है। पाँच वर्ष के विवाहित जीवन के बाद जब वह विदेश जाने लगता है तब चम्पादेवी ने कहा कि मेरे सिर पर हाथ रखकर प्रतिज्ञा करो कि तुम मुझे भूलोगे नहीं। विदेश जाकर गोपालकृष्ण अपनी प्रतिज्ञा को भूल गया और विदेश में रहते हुए उसने दूसरा विवाह भी कर लिया। १६ वर्ष व्यतीत हो गये। चम्पादेवी ने एक पुत्री को जन्म दिया था जो १६ वर्ष की आयु में आते-आते मैट्रिक परीक्षा पास कर लेती है। चम्पा पति वियोग से क्षुब्ध रहती है और रूग्ण भी। गोपालकृष्ण विदेश से लौटता है और चम्पादेवी उसके चरणों में सिर रखकर वियोग व्यथा की दारूण कथा कहती है, किन्तु गोपालकृष्ण के मन में चम्पा के प्रति प्रेम के स्थान पर घृणा का भाव प्रकट हो रहा था।

चम्पा अत्यंत कुरूप हो गई थी, उसके पास अच्छे कपड़े भी नहीं थे। उसे देखकर गोपालकृष्ण ने अपनी भाभी से कहा, हटाओ इस बुढ़िया को, नहीं तो मैं बाहर जाता हूँ। गोपालकृष्ण ने चम्पा के स्नेह सत्कार को भूलकर रामकली नाम की स्त्री से तीसरा विवाह कर लिया। यह विवाह गोपालकृष्ण की भाभी देवकी कराती है। रामकली एक निर्धन किसान की बेटी है उसके रूप यौवन पर मुग्ध होकर गोपालकृष्ण अपनी पुत्री सरला और पत्नी चम्पा को छोड़कर चला जाता है। रामकली को एक पुत्र रत्न की प्राप्ति होती है और यहीं पुत्र पारिवारिक संघर्ष का कारण बनता है। अब तक परिवार में केवल एक ही पुत्र था और वह था देवकी का पुत्र/ देवकी के मन में रामकली को पुत्रोत्पत्ति के समाचार से ईर्ष्या होती है और वह सिद्ध करना चाहती है कि यह अवैध पुत्र है और यह एक नाई का बेटा है। रामकली का बेटा नहीं। इस प्रकार परिवार में संकट पैदा होता है और परिवार के तीनों भाई राधाकृष्ण, गोपालकृष्ण और माधवकृष्ण जमींदारी की संपत्ति को लेकर अलग हो जाते हैं। असहाय चम्पा की ओर किसी का ध्यान नहीं जाता है। माधवकृष्ण की पत्नी रमा ही उसकी ओर ध्यान देती है। रामकली के प्रति गोपालकृष्ण का प्रेम का आकर्षण समाप्त हो जाता है और वह पारिवारिक जीवन से असंतुष्ट होकर बेलूर नामक ग्राम में रहने लगता है। तब एक दिन उसका छोटा भाई माधवकृष्ण उससे मिलने आता है और परामर्श देता है कि उसके मन की अशांति को दूर करने में उसकी पत्नी चम्पा ही सहायक हो सकती है। इसलिए चम्पा को अपनी कोठी में बुलवाओ और उसके साथ प्रेमपूर्वक रहो। चम्पा

वहाँ उस कोठी में आ गई और गोपालकृष्ण के साथ रहने लगी। गोपालकृष्ण का आकर्षण फिर उसके प्रति बढ़ने लगा और साथ ही रामकली के प्रति विरक्ति का भाव भी पैदा होने लगा।

रामकली के प्रति विरक्ति का भाव चरम सीमा पर पहुँच गया तब गोपालकृष्ण ने रामकली को चम्पा से अलग करना चाहा। रामकली से पिंड छुड़ाने के लिए वह उसे प्रयाग स्नान के लिए इलाहाबाद ले जाता है। और रामकली को कलंकिनी सिद्ध करके छोड़ देता है। वह लौटकर अपने माता-पिता के घर चली गई और उसे अपने पुत्र से भी विरक्त होना पड़ता है। जब उसे मालूम पड़ा कि उसके पुत्र के नामकरण संस्कार का कार्यक्रम हो रहा है। तब वह बेलूर नामक ग्राम में पहुँचती है, जहाँ से अपमानित करके उसे निकाल दिया जाता है। तिरस्कृत होकर रामकली उसी गाँव के देव मंदिर में शरण लेती है। उसी समय मंदिर में चम्पादेवी भी आती है और वह रामकली को पहचान लेती है। रामकली अपनी व्यथा की कथा चम्पा को सुनाती है और इस षडयंत्र के मूल में अपने को कोसती है तथा तीन पत्र लिखती है। एक अपने पति के लिए एक अपने पुत्र के लिए, एक अपनी देवरानी रम्त के लिए, और इन पत्रों को छोड़कर अज्ञातवास के लिए निकल पड़ती है। कोई जान नहीं पाता है कि चम्पा देवी कब और कहाँ चली गई है। इस उपन्यास की कथा यहाँ पर समाप्त हो जाती है।

इन तीनों उपन्यासों का मुख्य ध्येय नारी जाति की हीन अवस्था का घटनाक्रम द्वारा परिचित कराना ही है। विलासी व्यक्ति नारी के रूप सौन्दर्य पर ही मुग्ध रहता हैं। वह सती-साध्वी गरिमामयी नारी की अवहेलना करके अपनी वासना को तृप्त करना चाहता है। इस उपन्यास में आदर्श की बात स्थापित करने का इन्द्र जी का उद्देश्य नहीं है। उन्होंने यथार्थ के स्तर पर जिन पात्रों की अवतारणा की है वे अपने आचरण व्यवहार में निर्लज्ज और कुत्सित व्यक्ति है। गोपालकृष्ण के चरित्रांकन में एक जमींदार का विलासपूर्ण जीवन और उसके वासनाचक्र में फंसी हुई रामकली का व्यथापूर्ण जीवन यथार्थ शैली से अंकित किया है।

कुछ अन्य पात्र भी हैं जो यथार्थ की भूमि पर प्रस्तुत किये गये हैं। पंडित रामधन एक ऐसे व्यक्ति हैं जो धर्म की आड़ में पूजा-पाठ के नाम पर भोले-भाले व्यक्तियों से अनुचित तरीके से धन बटोरता है। एक व्यक्ति है बजरंग, वह भी समाज के चतुर चालाक धोखेबाज़ व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करता है। वह रेल यात्रा में टिकट नहीं लेता है। रेल में हमेशा ऊंचे दर्जे में सफ़र करता है और यह कहता है कि

अक्लमंद आदमी वहीं है जो सरकारी गाड़ी में मुफ्त में यात्रा करता है। कुछ परपंरा-प्रिय व्यक्ति भी हैं। चरित्र-चित्रण में लेखक ने प्रायः वर्णनात्मक शैली का ही आश्रय लिया है। उनके पात्र नये न होकर प्रायः पुराने शैली के ही है। कुछ खलनायक भी है, कुछ आदर्शवादी है और कुछ समाज से त्रस्त और पीड़ित व्यक्ति। चित्रण में उन्होंने मनुष्य के मन की गहराई में प्रवेश करने वाला कोई प्रयास नहीं किया है।

केवल संवाद शैली से उन्होंने यहीं ध्यान रखा है कि बातचीत के माध्यम से व्यक्ति का चरित्र उद्‌घाटित हो। प्रायः सभी संवाद अभिधा शैली में लिखे गये हैं। लक्षणा और व्यंजना से उनका सरोकार नहीं है। देशकाल के विचार से भी उपन्यास का धरातल सामान्य-सा है और मुख्य पात्र जमींदार परिवार से सम्बंध रखता है। आज से सत्तर वर्ष पहले जमींदार वर्ग का जैसा बोलबाला था और कृषकों पर जैसा आतंकपूर्ण व्यवहार था उसका पूरा-पूरा आभास 'सरला की भाभी' में मिल जाता है। जमींदारी के ठाठ-बाठ का वर्णन भी इन्द्र जी ने बड़े विस्तार से किया है। मामीण क्षेत्रों में जमींदारों का जैसा आतंकपूर्ण व्यवहार रहता था, इन्द्र जी की दृष्टि में वह मानवोचित नहीं था और वे व्यवहार के प्रति रूष्ट भी थे। इसलिए अपने रोष को उन्होंने इन पात्रों की अवतारणा में व्यक्त किया है। उस समय सम्पन्न लोगों में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी। गोपालकृष्ण ने तीन विवाह किये थे। गोपालकृष्ण की विलासी प्रकृति और उद्‌दण्डता के चित्रण से बहुविवाह की प्रथा पर इन्द्र जी ने अच्छा प्रहार किया है। लोभी, लालची व्यक्तियों का चरित्र भी इस उपन्यास में दर्शाया गया है स्वयं लेखक अपने उपन्यास में सरला की भाभी शीर्षक उपन्यासों को सबसे प्रिय उपन्यास मानते थे।

सरला

सरला की भाभी उपन्यास में चम्पादेवी उपन्यास के केन्द्र में है, किन्तु सरला शीर्षक उपन्यास जो कि उसी का विकसित रूप है सरला को केन्द्र में रखकर लिखा गया है। इस उपन्यास में ६ परिच्छेद है। प्रथम परिच्छेद में हम सरला को अपने पिता गोपालकृष्ण के साथ बम्बई में देखते हैं। उसकी भेंट बम्बई में २५ वर्षीय प्राणजीवन से होती है वह उच्च शिक्षा के लिए अपने गाँव भावनगर से बम्बई आया है। एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण कर चुका है और एक महिला आश्रम में प्रधानाचार्य के रूप में कार्य कर रहा है। सरला उसी महिला आश्रम में अध्ययन करने के लिए आती है और प्राण जीवन के संरक्षण में रहती है। प्राण जीवन और सरला एक दूसरे के प्रति आकृष्ट हो गये थे और भविष्य के विषय में सोचने लगे थे। इस आश्रम की अधिष्ठात्री भारती

देवी नाम की एक बाल विधवा है। वह प्राण जीवन और सरला की घनिष्ठता को पसंद नहीं करती है। जब यह बात सरला को पता चलती है तो इस घटना के बाद आश्रम को छोड़ देती है।

इसके आगे इन्द्र जी ने घटना को नया मोड़ दिया है और सरला की माँ चम्पा देवी का वर्णन आरंभ कर दिया है। इसलिए सरला शीर्षक उपन्यास भी सरला की भाभी उपन्यास का ही एक भाग है। इन्द्र जी ने इस उपन्यास में जिन घटनाओं का वर्णन किया है वे अपने आसपास के जीवन में घटित होने वाली बातें हैं। इस उपन्यास की कई घटनायें हरिद्वार, ऋषिकेश आदि धार्मिक स्थलों पर घटित होती रहती है जहाँ से इन्द्र जी का घनिष्ठ सम्बंध रहा है।

चरित्र चित्रण के लिए इन्द्र जी ने जो शैली अपनाई है वह एक सरस शैली है जिसमें व्यक्ति के शारीरिक, सुगाठित रूप सौन्दर्य का, बाद में उसके सोच विचार का और तदन्तर उसकी कार्यशैली का परिचय कराया गया है। व्यक्ति का बाह्य और आभ्यान्तर रूप पाठक के सामने आ जाता है। कहीं-कहीं मनोविश्लेषणात्मक पद्धति का भी अनुसरण किया गया है। किन्तु ऐसे स्थल अत्यल्प है। कथोपकथन की भाषा भी पात्रानुकुल है। इस उपन्यास का घटनाचक्र सन् १९३४ के आसपास का है। उस समय बम्बई शहर का वातावरण अशांत था। इसमें बम्बई के मराठे मजदूरों का वर्णन सुपाठ्य शैली में किया गया है। जैसा कि पहले कहा गया कि इन तीनों उपन्यासों में नारी की शोचनीय स्थिति का वर्णन करना ही लेखक का प्रमुख उद्देश्य रहा है। समाज में फैले हुए धर्म के विकृत रूप, बाह्य आडम्बरों तथा रूढ़ियों पर प्रहार करना लेखक का अभीष्ट रहा है। धार्मिक तीर्थ स्थानों पर फैले हुए ढोंग और पाखंड को उजागर करना भी उनका अभिप्रेत विषय है। उन्होंने विधवा विवाह का समर्थन किया है। स्त्री शिक्षा की उपयोगिता पर सतर्क विचार व्यक्त किये है। संक्षेप में यह उपन्यास तत्कालीन सामाजिक समस्याओं से जूझने की प्रेरणा देता है। दूसरे शब्दों में सामाजिक सुधार भी उसका उद्देश्य कहा जा सकता है।

आत्मबलिदान

आत्मबलिदान' शीर्षक उपन्यास का केन्द्र बिन्दु भी सरला ही है। इसका घटनाक्रम सन् १९३४ ई० से प्रारंभ होता है। सरला चूंकि बिहार की रहने वाली एक जमींदार की पुत्री थी इसलिए बिहार भूकम्प के समय जन-धन की अपार क्षति होने से सरला के माता-पिता सरला को बम्बई से बेलूर ले जाते है। उसके पिता गोपालकृष्ण का तो निधन हो जाता है और रह जाती है माँ बेटी, चम्पा और सरला।

चम्पा और सरला के मन में भूकम्प पीड़ितों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न होती है और वे दोनों लोक कल्याण के पथ पर अग्रसर हो जाती हैं। बनारस से आये हुए स्वयंसेवक दल के नेता रामनाथ से चम्पा और सरला का परिचय होता है और चम्पा उसके सौम्य व्यवहार को देखकर अपनी बेटी का विवाह रामनाथ से कर देती है। रामनाथ राजनीति में सक्रिय व्यक्ति हो जाता है और सरला भी उसकी सहयोगी बन जाती है। राजनीतिक भाषण के कारण रामनाथ का दो वर्ष की सजा हो जाती है और सरला राजनीतिक क्षेत्र में अकेली रह जाती है। अपने सहज सरल व्यवहार से वह प्रान्त भर में अजातशत्रु समझी जाती है और प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की प्रधान चुनी जाती है। किन्तु यह पद उसके लिए शुभदायी सिद्ध नहीं होता है। अपनी पत्नी सरला के विषय में रामनाथ झूठी अफवाहें सुनता है और वह सरला के प्रति उग्र रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार दोनों के सम्बंध कटु हो जाते हैं। जब रामनाथ कांग्रेस कमेटी के वार्षिक अधिवेशन में भाग लेने बम्बई आता है। ११ अगस्त १९४२ में गाँधी जी के करो या मरो के संदेश से सरला भी एक लम्बा जुलूस बनाकर जुलूस के आगे झंडा लेकर चलती है, और जुलूस के ऊपर हुए आक्रमण से भी भयभीत नहीं होती है और सीना तानकर खड़ी हो जाती है। पुलिस की एक गोली उसके माथे को पार करती हुई निकल जाती है और सरला का वहीं अवसान हो जाता है। यही सरला का आत्मबलिदान है। एक प्रकार से सरला का निधन दुखान्त ही माना जाएगा।

सरला के आत्मबलिदान ने स्त्री जाति के प्रति पाठकों के मन में सहानूभूति उत्पन्न की है। इस उपन्यास में लेखक ने अपने समय के राष्ट्रीय जागरण और नारी जाति के सक्रिय सहयोग को ध्यान में रखकर कूतुहल का सृजन करके यथार्थ का वर्णन किया है। यदि इस उपन्यास पर नायक की दृष्टि से विचार किया जाए तो हम देखते है कि रामनाथ ही इसका नायक ठहराता है। यद्यपि बलिदान करने वाली नारी सरला है किन्तु उसको प्रेरणा देने वाला रामनाथ ही है। उसने ही राजनीति में आने के लिए सरला को प्रेरित किया था। यों उसमें नेतृत्व के गुण तो हैं ही और वह बेलूर पहुँचने पर सरला के प्रति आकृष्ट होने पर भी अपने राजनीतिक कार्यों में शिथिलता नहीं आने देता है। सरला की सम्पत्ति के प्रति उसका कोई आकर्षण नहीं है। रामनाथ का सम्पूर्ण जीवन राजनीतिक जीवन ही है। उसने अपना सर्वस्व राष्ट्र के लिए समर्पित कर दिया है। कांग्रेस का वह अनन्य भक्त है। वह सरला को भी बार-बार कहता है कि यदि तुमने राजनीति में प्रवेश किया है तो तुम्हें इसके लिए आत्मबलिदान भी करना होगा।

उसकी पत्नी सरला मितभाषिणी, उदात्त चरित्र वाली महिला है और आदि से अंत तक अपने चारित्रिक सौमनस्य को बनाये रखती है। वह एक प्रतिभा सम्पन्न और

अध्ययनशील कर्मठ महिला है। पहले वह विवाह करना भी पसंद नहीं करती है किन्तु विवाह हो जाने पर वह विवाह की मर्यादा को पूरी तरह निभाती है। वह स्वतंत्रता सेनानी, सुशिक्षित आधुनिक महिला है, और अपनी चारित्रिक दृढ़ता के कारण समाज में सम्मान प्राप्त करती है। पति के क्रुद्ध हो जाने पर भी वह अपनी माता के पास नहीं जाती और उसे विश्वास है कि जिन मिथ्या दोषारोपण के कारण रामनाथ उससे विरक्त हुआ था वह उसे स्वीकार नहीं करती है। वह देश के लिए आत्मबलिदान देकर अपने जीवन को सार्थक करती है। इसमें संदेह नहीं है कि सरला देश पर हुतात्मा हुई। इससे बड़ा सौभाग्य किसी नारी को क्या मिल सकता है। साथ ही वह एक देशभक्त कहलाने वाले पुरूष (रामनाथ) के घोर अहंकार और हठीलेपन का शिकार हुई परन्तु वह अपने दृढ़ व्रत से विचलित नहीं हुई।

कथोपकथन की योजना करते समय लेखक ने वातावरण देश और काल आदि का ध्यान रखता है। संवादों में चुटीलापन और नाटकीयता का रंग भरना भी विषय को स्पष्ट करने में सहायक होता है। प्रस्तुत उपन्यास में जिस संदर्भ का चित्रण हुआ है उसका संबंध स्वतंत्रता संग्राम के भारतीय वातावरण से है। उपन्यास के मुख्यपात्र रामनाथ तिवारी, बलधारी सिंह, सरला आदि सभी कांग्रेस के कर्मठ सदस्य है, और उन पात्रों का भौगोलिक परिवेश भी उपन्यासकार ने भली-भाँति चित्रित किया है। भूकम्प के समय प्रकृति के प्रकोप का वर्णन भी उपन्यास में बहुत सुन्दर शैली में किया गया है। एक उदाहरण पठनीय है "जिन नदियों में जहाज चल रहे थे। वह ऐसे सूख गई कि कुछ समय के लिए यह मानना भी कठिन हो गया कि यहाँ कभी पानी था। नदियों से दूर शहरों और गाँवों में घरों के अन्दर और बाजारों में भूतल से फौव्वारे छूट पड़े, और नदियाँ बहने लगी, सैकड़ों मील के खेत जिनमें लहलहाती फसलें खड़ी थी, गजों गहरे पानी के नीचे आ गई। अट्टालिकाएं जमीन में धंस गई और गड्ढों की मिट्टी उछल कर खंडहरात के ढ़ेरों में जा गिरी।" उपन्साय की भाषा सरल और बोधगम्य है। पात्रानुकूल भाषा के प्रयोग से कथा में प्रवाह बना रहता है कहीं लोकोक्ति और मुहावरों का भी व्यवहार हुआ है। प्रायः वाक्य छोटे और सधे हुए है। वाक्य योजना और शब्द प्रयोग में कहीं दुरूहता नहीं है।

लेखक ने अपनी मान्यताओं और अनुभूतियों को पात्रों के माध्यम से पाठक के समक्ष प्रस्तुत किया है। स्त्री पात्रों के माध्यम से उसने नारी समाज की दयनीय स्थिति को उभार कर यथार्थ शैली में प्रस्तुत किया है। समाज की विसंगतियों और विकृतियों का यथार्थ चित्रण मात्र कर देना उनका अभिप्रेत नहीं है, इसलिए अपने आदर्शों के अनुरूप समाज का निर्माण करने के लिए आदर्श पात्रों का सृजन करना आवश्यक

समझा है। ऐसे आदर्श पात्र पीड़ित और प्रताड़ित होते हैं किन्तु सत्य पथ से विरत नहीं होते हैं। आदर्शों की विजय दिखाकर लेखक जनमानस के मन में खोई हुई आस्था को पुनः प्रतिस्थापित करना चाहता है। वस्तुतः इन्द्र जी के उपन्यास केवल काल्पनिक या गल्प मूलक कथाओं को मनोरंजन के लिए प्रस्तुत करने के लिए नहीं लिखे गये है वे सब सोद्देश्य लिखे गये हैं। इन्द्र जी ने समाज के विभिन्न पक्षों को जिस दृष्टि से देखा और उनमें जो उचित और अनुचित प्रतीत हुआ उसको आदर्शोन्मुख यथार्थ शैली में प्रस्तुत किया है। कह सकते हैं कि उन्होंने कल्पना की उड़ान ही नहीं भरी अपितु जीवन के सत्य को अपनी कृतियों में स्थान दिया है। अभी तक इन्द्र जी के इन उपन्यासों पर हिन्दी के तत्कालीन पाठकों ने तो ध्यान अवश्य दिया था किन्तु अद्यावधि समालोचकों का ध्यान उनके उपन्यासों की ओर नहीं गया। यदि सामाजिक यथार्थ की भूमि पर उनके उपन्यासों का अध्ययन किया जाए तो वे प्रेमचन्द्र परम्परा के एक सफल उपन्यासकार स्वीकार किए जाएंगे।

संस्मरण-साहित्य

"मैं इनका ऋणी हूँ"

संस्मरणों की श्रंखला में इन्द्र जी ने "मैं इनका ऋणी हूँ" शीर्षक रचना में १५ महानुभावों के संस्मरण लिखे हैं। इन संस्मरणों के लिखने का प्रयोजन किसी महानुभाव को गुण-दोष का विवेचन करना नहीं है वरन् उनकी विशेषताओं का प्रदर्शन करना है, जिनके कारण वह राष्ट्र के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हुए हैं। बीच-बीच में कहीं-कहीं उन व्यक्तियों के स्वभावगत दोष का भी संकेत मिल जाता है, किन्तु लेखक का ध्यान दोष निरूपण पर न होकर चारित्रिक वैशिष्टय पर ही है। इन संस्मरणों में जिन १५ व्यक्तियों का लेखक ने वर्णन किया है उनके नाम है–लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी, मोतीलाल नहेरू, हकीम अजमल खाँ, मदनमोहन मालवीय, लाला लाजपतराय, डा० अंसारी, मौलाना अबुल कलाम आजाद, आसफ अली, सरदार वल्लभभाई पटेल, नेताजी सुभाषचन्द्र बोस, बाबू शिवप्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त, मुन्शी प्रेमचन्द, देवदास गाँधी, और स्वामी श्रद्धानंद। इन महापुरूषों के वर्णन में इन्द्र जी की अपनी एक पृथक शैली है। प्रारंभ में ही उस व्यक्ति की रूपाकृति से अपनी बात शुरू करते हैं। बापू के संस्मरण की भूमिका में वे लिखते हैं कि जब तक सूर्य आकाश में रहता है हम कहते है कि यह दिन है, जब वह अस्त हो जाता है तो हरेक व्यक्ति जान लेता है कि आकाश में एक प्रकाश पुंज था, जो चला गया और नीले अंधकार का एक आवरण छोड़ गया। बापू की जिन विशेषताओं के उन्हें देश के अंतरिक्ष में सूर्य का स्थान दिया उन सब का यदि एक शब्दों में वर्णन करना है तो वह शब्द होगा "बापू"।

मोतीलाल नेहरू के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते हुए वे लिखते हैं कि एक योग्य वकील को जिस भाषण शैली से काम लेना चाहिए, मोतीलाल जी उसके उस्ताद थे। अंग्रेज़ी और उर्दू दोनों भाषाओं पर उनका पूर्ण प्रभुत्व था। जिन्दादिली उनका विशेष गुण था। वास्तविक रूप में वे एक वकील, वक्ता थे। इन संस्मरणों में उन्होंने यत्र-तत्र सरस घटना का भी समावेश कर दिया है।

'हकीम अजमल खाँ' के निवास स्थान पर वर्णन करते हुए वे लिखते हैं "झगड़ों का निपटाने के लिए ही लोग वहाँ चलकर आते थे। बड़े-बड़े श्रद्धालु को उनके उस कमरे में हकीम साहब के सामने भीगी बिल्ली की तरह नरम होते देखा है। कुछ हकीम साहब के व्यक्तित्व का प्रभाव तो कुछ उनके धीमे स्वर का जादू और कुछ कमरे का चमत्कार। बड़ी से बड़ी समस्या १५-२० मिनट में सुलझ जाती थी। इन संस्मरणों में इन्द्र जी की भावुकता की झलक भी पाई जाती है।

"नेताजी सुभाष चन्द्र बोस" के सम्बंध वे लिखते हैं कि एक दिन समाचार पत्रों में पढ़ा कि नेताजी सुभाषचन्द्र बोस जापान जाते हुए हवाई जहाज की दुर्घटना में समाप्त हो गये। भारतवासी इस समाचार को पढ़कर स्तब्ध रह गये। मेरे लिए तो उनकी स्मृति चित्र रूप में विद्यमान है, जिस पर उनके हस्ताक्षर अंकित है। मैं उसे देखता हूँ और कहता हूँ "बड़े गौर से सुन रहा था जमाना तुम्हीं सो गये दास्ता कहते–कहते"। इन संस्मरणों में कोरी औपचारिकता नहीं है, इसलिए हम कह सकते हैं कि इन्द्र जी के संस्मरणों में सजीवता, सरसता, स्वाभाविकता, आदि उनके अनेक गुण विद्यमान है और ये संस्मरण इन्द्र जी की आस्था, निष्ठा और विश्वास के परिचायक है।

"पत्रकारिता के अनुभव" शीर्षक पुस्तक भी एक संस्मरणात्मक रचना ही है। यह ठीक है कि उसमें संस्मरण का अंश अपेक्षाकृत कम है, और इतिहास का अधिक। जीवन की झांकियाँ यद्यपि जीवनी साहित्य के अंतर्गत ही आती है, किन्तु इन्द्र जी की लेखन शैली से उनके संस्मरण के चित्र भी स्थान-स्थान पर मिलते हैं। 'मेरे पिता' शीर्षक पुस्तक जीवनी न होकर मूलतः हम इसे संस्मरणात्मक कृति ही कहना उचित समझते है। यद्यपि इसकी गणना जीवनी साहित्य में की जाती है, किन्तु शैली और विषय की दृष्टि से यह पुस्तक संस्मरण साहित्य का ही एक अंग है।

इन संस्मरणों में एक बात ध्यान देने योग्य है कि इन्द्र जी ने जिन व्यक्तियों का चयन किया है उनमें अधिकांश राजनीति से सम्बंध रखने वाले है। दो-तीन व्यक्ति साहित्यकार भी है। साहित्यकारों के सम्बंध में वे समय-समय पर अपनी सम्पादकीय टिप्पणियाँ भी लिखते रहते थे।

किन्तु उनका संकलन नहीं होने से उन पर यहाँ विचार करना कठिन है। 'जीवन ज्योति' शीर्षक संस्मरणों में भी उन्होंने कई महानुभावों के त्याग, तपस्या और बलिदान का वर्णन किया है। राष्ट्रीयता के बीज तो उनकी रचनाओं मे प्रारंभ से ही विद्यमान थे, किन्तु ज्यों-ज्यों उनकी लेखनी परिभार्जित होती गई त्यों-त्यों उनके साहित्यिक सौष्ठव का भी विकास होता गया। उन्होंने अपनी रचनाओं में धार्मिक एवं सामाजिक रूढ़ियों पर बड़ी प्रखरता के साथ कुठाराघात किया है। समाज में व्याप्त अंधविश्वास, पाखंड और रूढ़ियों पर अनेक स्थान पर उन्होंने तीखे व्यंग्य किये है, और यह दिखाने का प्रयत्न किया है यदि हमारा देश इन्ही धार्मिक रूढ़ियों पर चलता रहा तो वह उन्नति की दिशा में अग्रसर नहीं हो सकता।

'महर्षि दयानंद' के माध्यम से उन्होंने इन समस्याओं के समाधान का मार्ग भी सुझाया है। भारतीय समाज में व्याप्त जातिवाद के वे घोर विरोधी थे। उनके मत में जातिवाद ने देश की जनता के साथ घोर अन्याय किया है। जिन्हें हम शूद्र या अछूत कहते हैं इन्द्र जी की दृष्टि में वे अछूत नहीं है। भारत में अछूत कहलाने वाले लोगों की संख्या ढाई-दो करोड़ है। यदि कानून और समाज सुधार द्वारा उनकी कृत्रिम अस्पृश्यता नष्ट कर दी जाए और उनकी कल्पित अयोग्यता मिटा दी जाए, तो वे राष्ट्र की अपूर्व शक्ति का कारण बन सकते हैं। अन्यथा वे राष्ट्र की प्रगति के मार्ग में जबर्दस्त रूकावट बने रहेंगे। वर्णाश्रम धर्म के आधार पर जातियों का निर्धारण राष्ट्र के लिए रोड़ा है। स्त्री शिक्षा के बारे में उनके विचार अपने समय को देखते हुए बहुत अग्रगामी और उदार थे। भारत की अशिक्षित नारी की उपेक्षा उनकी दृष्टि में बहुत बड़ा अन्याय है। 'सरला' शीर्षक उपन्यास में उन्होंने स्त्रियों का दुरावस्था का विस्तार से वर्णन किया है, और यहाँ बताया है कि स्त्री जाति की उन्नति का साधन केवल शिक्षा ही है। शिक्षित होने पर ही वह कानून में भी परिवर्तन ला सकती है।

सामाजिक सुधार के क्षेत्र में उन्होंने अनेक उपाय सुझाये हैं उनके उपन्यासों का आधार तो समाज सुधार ही है। इन्द्र जी का विश्वबन्धुत्व और प्राणी मात्र के प्रेम में अटूट विश्वास था। प्राणी मात्र के प्रेम की बात करते हुए उन्होंने इस प्रेम को भी बहुत स्पष्ट शब्दों में वर्णित किया है। "जो प्रेम या सेवाव्रत मैं और मेरे पर विचार करता है वह असली नहीं नकली है। अत्यंत निकट समय में अपनों की सहायता करना मनुष्यता है। मनुष्य मात्र की सहायता के लिए कटिबद्ध रहना महत्त्वपूर्ण कार्य है, और प्राणीमात्र की अपनी सहानूभूति का पात्र बनाना ऋषित्व है।" विश्वबन्धुत्व की भावना को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि "आर्य सज्जन सदा से यहीं मानते हैं कि सामान्यतः आर्यावर्त, इंग्लैंड और अमरीका आदि सकल भूमंडल के मनुष्य भाई है, परस्पर मित्र

है, और समान है, और मानते है कि धार्मिक व्यवहारों के साथ वे मित्र है असत्य और अधर्म के साथ नहीं। प्राचीन रूढ़ परम्पराओं में उनका विश्वास नहीं था इसलिए उन्होंने यह बहुत स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया कि कोई वस्तु केवल इसलिए अच्छी नहीं है कि वह नयी है। इस प्रकार कोई अच्छी वस्तु अपने देश की होने मात्र से अच्छी नहीं होती, अच्छी वस्तु सभी जगह अच्छी होती है इसलिए अच्छे-बुरे के विवेक का अन्तर विषयगत है धार्मिक नहीं।

पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति हिन्दू मुस्लिम एकता के परम पक्षपाती थे परन्तु उनकी एकता का आधार राजनीतिक नहीं था। स्वराज्य प्राप्ति की सौदेबाजी से बहुत ऊँचा उठकर हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई आदि की एकता की चर्चा स्थान-स्थान पर की है। उनके उपन्यास में तो इस प्रकार के अनेक पात्र और विषय मिलते हैं जहाँ पर मैत्री सम्बंध में मजहब बीच में नहीं आता है।

मेरे पिता (संस्मरण)

इन्द्र विद्यावाचस्पति ने 'मेरे पिता' शीर्षक ने अपने पूज्य पिता स्वामी श्रद्धानंद जी का जीवन चरित्र लिखा है। पुस्तक की भूमिका में ही उन्होंने कहा है कि मैं यहाँ न औरों का इतिहास लिख रहा हूँ और न ही उनके जीवन चरित्र में उन घटनाओं और व्यक्तियों के जीवन चरित्र को अंकित करने का प्रयत्न कर रहा हूँ जिनकी पृष्ठभूमि में मेरे पिताजी का न्यूनाधिक सम्पर्क विद्यमान हो। वस्तुतः 'मेरे पिता' पुस्तक जीवन चरित्र न होकर उनसे संबंधित जीवन की अनेक घटनाओं और व्यक्तियों के संस्मरण है। अतः इसे संरशरणात्क पुस्तक ही कहा जा सकता है। इस पुस्तक में पहला संस्मरण "जब मैंने होश संभाला" है। इसमें लेखक ने अपने बाल्यकाल की स्मृतियों से सम्बंधित घटनाओं का वर्णन किया है। विशेष रूप से अपनी ताई जी की ममता का इसमें उनहोंने वर्णन किया है। दूसरे परिच्छेद में लेखक ने अपने पूर्वजों के मूल स्थान तलवन का वर्णन किया है। तलवन ग्राम के प्रति लेखक के मन में एक गहरा भावात्मक लगाव है। तलवन की यात्रा करते समय बालक इन्द्र के मन में जो विचार आता था उसका वर्णन इस प्रकरण में विस्तार से किया गया है। उनकी यह मान्यता थी कि तलवन उस समय पुराने विचारों का गढ़ था। वहाँ के निवासी अंधविश्वास और रूढ़ियों में बुरी तरह से फंसे हुए थे। इस वर्णन से विदित होता है कि उस समय की ग्रामीण जनता सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत पिछड़ी हुई थी। इस वर्णन को पढ़कर लगभग १०० वर्ष पहले के भारतवर्ष का ग्रामीण जनजीवन का चित्र पाठक के नयनों के सामने उपस्थित हो जाता है। इसके बाद लेखक ने अपने पिताजी के गृहस्थ जीवन पर लिखा है। पिताजी की चारित्रिक दृढ़ता तथा नियमित दिनचर्या का इन्द्र जी पर

बाल्यावस्था से गहरा प्रभाव पड़ा था। मुन्शीराम जी (स्वामी श्रद्धानंद) का झुकाव शनैः-शनैः राजनीति की ओर प्रारंभ हो गया था। उनके मन में अंधविश्वास और रूढ़ियों को तोड़ने की भावना दृढ़ होती जा रही थी।

इन्द्र जी एक बार अपने पिता के साथ रोपड़ कस्बे की प्रचार यात्रा में गये थे। इस यात्रा को उन्होंने बहुत आकर्षक माना है। रोपड़ की नहर का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं कि "नहर के किनारे जाकर देखा कि तीन-चार छती हुई किश्तियां जिन्हें प्रचलित भाषा में बजरा कह सकते हैं, खड़ी हुई थी। उन्हें देखकर प्रायः सभी के हृदय में उत्साह पैदा हो रहा था। बच्चों का तो कहना ही क्या, हमारे लिए तो मानो यह एक समुद्र यात्रा थी। सभी किश्तियां सुन्दर थी, साफ-सुथरी थी और बिस्तर बिछाकर सोने की खुली जगह भी थी। किश्ती में यात्रा करते समय कुछ तूफान सा आ गया। उस तूफ़ान के समय उनके पिताजी ने जिस धैर्य और साहस का परिचय दिया वह *ईश्वर विश्वास का ही परिचायक है।" "भगवत कृपा का भरोसा"* शीर्षक में इन्द्र जी अपने पिता से संबंधित एक ऐसी घटना के प्रस्तुत करते है जिसने स्वामी जी के हृदय में ईश्वर के प्रति आस्था को अटल बना दिया था।

स्वामी जी ने मुसलमानों को शुद्ध करके हिन्दू धर्म में दीक्षित करने और विधवाओं का विवाह कराना उस समय के लोगों के लिए तीव्र प्रतिक्रिया की बातें थी। इन घटनाओं में इन्द्र जी ने अपने पिता की विचारों की दृढ़ता और संयम का बहुत अच्छा परिचय दिया है। वे यह मानते थे कि उनके पिता अपने निश्चय पर अटल रहने वाले महापुरूष थे। इस महापुरूष के एक निश्चय को "पूण्यभूमि में कैसे पहुँचे" शीर्षक में व्यक्त किया है।

गुंजरावाला से गुरूकुल कांगड़ी (हरिद्वार) तक लाने की घटना का वर्णन है, उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक गुरूकुल बनाने के लिए तीस हजार रूपये इकट्ठा नहीं कर लूंगा, तब तक घर में पैर नहीं रखूंगा। मुन्शी अमनसिंह ने कांगड़ी नामक ग्राम और उससे लगी ७२ बीघा जमीन गुरूकुल को दान दे दी। यहाँ गुरुकुल की स्थापना हो जाने पर इन्द्र जी ने उसका बहुत ही चित्ताकर्षक रूप में वर्णन किया है। गुरुकुल में नवीनता का प्रवेश होने पर कुछ नई बातें भी बालकों के सम्मुख आई। फूस के छप्परों की जगह टीनशेड और दीपक के स्थान केरोसीन के लैम्प, एलौपैथिक चिकित्सा पद्धति के स्थान पर आयुर्वेदिक पद्धति आदि नवीनता का प्रवेश माना गया। विद्यार्थियों ने प्रारंभ में थोड़ी विरोध की भावना का प्रदर्शन भी किया नवीनता के प्रति, किन्तु दो प्रकार कि विचारधाराएँ स्पष्ट रूप से उस समय गुरूकुल में उभरकर सामने आई। गुरूकुल के पुरातनवादी लोग और कुछ अर्वाचीन विचार वाले प्राध्यापकों का परिचय भी इस प्रकरण में कराया गया है। इस पुस्तक में एक शीर्षक है "एक

मनोवैज्ञानिक परीक्षण" यह परीक्षण क्या था और इसका क्या प्रभाव पड़ा। यह इस अध्याय में स्पष्ट किया गया है। गुरूकुल के विद्यार्थी एकांगी जीवन से कभी-कभी उकता जाते और वे कुछ नया भी देखने को उत्सुक रहते थे। इस प्रकरण में देहरादून की यात्रा का वर्णन है जो छात्रों के जीवन में नवीनता का संचार करती है। एक बार सेंट स्टीफन्स कॉलेज, दिल्ली के एक विदेशी प्रोफेसर गुरूकुल कांगड़ी पहुँचे तो वहाँ के छात्रों को देखकर वे चकित रह गये। उस समय गुरूकुल में प्राचीन और अर्वाचीन शिक्षा पद्धति और चिकित्सा पद्धित तथा जीवन पद्धित पर संघर्ष चल रहा था। स्वामी श्रद्धानंद विचारों में नवीनता को भी स्थान देते थे और चाहते थे कि गुरूकुल के विद्यार्थियों का भी वैश्विक विचारधारा से परिचय हो, किन्तु प्राचीनता के समर्थक अध्यापक इसे स्वीकार नहीं करते थे, और यह संघर्ष कई वर्षों तक चला, किन्तु प्राचीन पद्धति के मानने वालों की ही विजय हुई। गुरूकुल में नवीन जीवन पद्धति को स्थान नहीं मिल सका। किन्तु एक बात थी पुराने कार्यक्रम के चलते रहने पर भी गंगा के उस पार दुनिया से अलग-अलग सर्वथा स्वतंत्र उपनिवेश के रूप में गुरूकुल सिर उठाये खड़ा था। इसलिए सरकार भी संदेह की दृष्टि से देखती थी। गुरूकुल के पदाधिकारी और संचालक गण सरकारी पदाधिकारियों की खुशामद भी नहीं करते थे। सरकारी लोगों का गुरूकुल के इस वातावरण के कारण कुछ संदेह भी रहता था और वे समझते थे कि गुरूकुल एक विद्रोहियों की जमात है। उस समय में गुरूकुल में तत्कालीन वाइसराय लार्ड चेम्सफोर्ड का आगमन हुआ इसके परिणामस्वरूप गुरूकुल पर घिरे सरकारी कोप के बादल कुछ समय के लिए छंट गये।

इस पुस्तक का एक संस्मरण है "दुखी दिल की पुरदर्द दास्ताँ" शीर्षक से यह यह संस्मरण स्वामी जी के जीवन पर समय-समय पर लगाये गये आक्षेपों से सम्बंध रखता है। स्वामी जी के प्रतिस्पर्धियों में ईर्ष्या का भाव था ही किन्तु स्वामी जी की स्पष्टवादिता भी उनके शुत्रओं को बढ़ाने में सहायक थी। स्वामी जी जहाँ स्पष्टवादी थे वहाँ अपनी त्रुटियों को भी व्यक्त करने में उन्हें किसी प्रकार का संकोच नहीं था। जब स्वामी जी ने संन्यास लेने का निश्चय किया तब उन्होंने एक वक्तव्य भी दिया। उस वक्तव्य में उन्होंने कहा था "मैं सदा सब निश्चय परमात्मा की प्रेरणा से श्रद्धापूर्वक करता हूँ। मेरा संन्यास भी श्रद्धा की भावना से ही प्रेरित होकर लिया गया है।" इस कारण उन्होंने श्रद्धानंद नाम धारण करके संन्यास में प्रवेश किया। स्वामी जी के संन्यास में प्रवेश करने के बाद गुरूकुल में तो उदासी का वातावरण छा गया था किन्तु राजनीति के क्षेत्र में चहल-पहल शीघ्र लक्षित होने लगी थी। स्वामी जी के जीवन की यह एक रोमांचकारी घटना है।

संन्यास ग्रहण करने के पश्चात् उन्होंने अपना कार्य क्षेत्र दिल्ली को बना लिया

था। उसके कुछ समय बाद ही रोलेट एक्ट के विरूद्ध महात्मा गाँधी ने जनता से सत्याग्रह की अपील की थी। इस संदर्भ में दिल्ली में रोलेट एक्ट को लेकर एक विशाल सभा हुई थी जिसके सभापति स्वामी जी थे। एक राजनीतिक मंच पर सभापति के रूप में बैठने का स्वामी जी के लिए पहला अवसर था। यह मानना ठीक ही है कि इस घटना के बाद से ही स्वामी जी क्रियात्मक राजनीति के क्षेत्र में प्रविष्ट हो गये थे।

"संगीनों की नोंक" प्रकरण में एक विशिष्ट घटना का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। दिल्ली में फौव्वारे के पास पीपल पार्क में आयोजित सभा को पुलिस ने घेर लिया था। इन्द्र जी लिखते हैं कि सन् १८५७ की क्रान्ति के बाद शायद यह पहला अवसर था कि दिल्ली के निवासियों पर सेना चढ़ाई करते हुए दिखाई दी। जुलूस के अग्रभाग के सामने सिपाही अपनी गनें संभाले खड़े थे। जुलूस अपनी गति से चल रहा था कि एक सिपाही द्वारा फायर कर दिया गया। आगे-पीछे सैनिक थे और बीच में स्वामी जी उस समय जनता में ही थे, और उन्होंने सिपाही से गोली चलाने का कारण पूछा। जिसका उत्तर सिपाही संगीन की नोंक उठाकर देने को तत्पर था। स्वामी जी इस स्थिति में भी निर्भयता के साथ एक कदम और आगे बढ़कर खड़े हो जाते हैं। स्वामी जी के वक्ष को सिपाही की संगीन की नोक लगभग छू रही थी। अपार जनसमूह स्तब्ध और सरकार का सैन्य बल किंकर्तव्यविमूढ़ स्थिति में खड़ा था। इतने में एक अधिकारी आया और उसने सिपाही की गलती स्वीकार कर ली।

एक और घटना का वर्णन इस संदर्भ में इन्द्र जी ने किया है। उसका शीर्षक रखा है। "मस्जिद के मीनार पर" यह घटना सन् १९१९ के दिनों की है जब सत्याग्रहियों पर सरकार गोली और लाठी बरसा रही थी। गोली से शहीद हुए एक मुस्लिम भाई का जनाजा जा रहा था "जनाजा जब घंटाघर के पास पहुँचा तब लगभग उसके साथ दो लाख व्यक्तियों की भीड़ भी। भीड़ में हिन्दू अधिक थे या मुसलमान यह कहना कठिन है। जनाजे के साथ स्वामी जी भी थे और उनके साथ हकीम अजमल खाँ भी। उसके दो दिन बाद ही एक और जुलूस निकला जिसमें हिन्दू और मुसलमानों के पाँच शवों की अंतिम यात्रा का एक अनूठा दृश्य था। हिन्दू और मुसलमानों की एकता और जोश की मिसाल उस समय देखने को मिली थी जब चार अप्रेल, १९१९ के दिन जामा मस्जिद में मुसलमानों का एक विशाल जलसा हो रहा था। किसी ने वहीं से आवाज देकर कहा था कि स्वामी जी की भी तकरीर होनी चाहिए। शायद यह भारत के ही नहीं इस्लाम के इतिहास में भी पहला अवसर था कि एक मुसलमानेतर व्यक्ति ने जामा मस्जिद की वेदी से वक्तव्य दिया। स्वामी जी ने ऋग्वेद के मंत्र से अपना वकतव्य प्रारंभ किया और ओम शान्ति के साथ समाप्त किया।

अमृतसर की घटना का भी इन्द्र जी ने संस्मरण के रूप में वर्णन किया है। सन् १९१९ में कांग्रेस का अधिवेशन अमृतसर में हुआ उसमें देशबन्धु चितरंजनदास, विपिनचन्द्र पाल और प्रसिद्ध पत्रकार श्री आयंगर आदि भी उपस्थित हुए थे। इस अधिवेशन का बहुत रोचक शैली में वर्णन प्रस्तुत किया गया है। साथ ही कांग्रेस के प्रौढ़ और प्रमुख व्यक्तियों पर अच्छा प्रकाश डाला गया। "लोकमान्य तिलक का जुलूस और गाँधी युग का जन्म" शीर्षक से बहुत सुन्दर वर्णन किया है। वे लिखते है कि मैंने जुलूस तो सैकड़ों देखे परन्तु असली जोश और जीवन्त उत्साह मुझे शायद ही किसी जुलूस में देखने को मिला हो। इस जुलूस में बाजारों में नरमुंड ही नरमुंड दिखाई देते थे। हर व्यक्ति तिलक महाराज की जय के नारे से आकाश को गुंजा रहा था। जनता के कोलाहल से उनके चेहरे पर न तो विक्षोभ की झलक दिखाई देती थी और न ही जनता के सत्कार से होठों पर मुस्कराहट दौड़ती थी। उनके गम्भीर तेजस्वी नेत्र और स्थिर निश्छल होंठ न तूफान में हिलते और न प्रभात के पवन से खिलते थे। उनमें मातृभूमि की पराधीनता की भावना मानो फौलाद बनकर बैठ गई थी। किसी ने यह नहीं सोचा था कि चट्टान की तरह अविचल लोकमान्य तिलक अंत में महात्मा गाँधी के प्रस्ताव से सहमत होकर कांग्रेस का नेतृत्व गाँधी जी को सौंप देंगे। कांग्रेस के इतिहास में अमृतसर की यह बैठक एक मेले जैसा समां बांध रही थी। इसी मेले में आर्य समाज के राष्ट्रवादियों का अलग से कैम्प लगा था। जिसके केन्द्र बिन्दु थे स्वामी जी। इतना ही नहीं इस कांग्रेस की अपनी कुछ मौलिकताएं भी थी। पंडाल, कुर्सी और मेज के स्थान पर चटाई और चादरों का प्रयोग हुआ था, और अध्यक्षीय भाषण अंग्रेजी में न होकर उर्दू में पढ़ा गया था। सब वस्तुओं पर गाँधी जी का अव्यक्त रूप से प्रभाव दिखाई दे रहा था जो यह सूचना दे रहा कि गाँधी जी कांग्रेस के डिक्टेटर बन चुके हैं।

इन्द्र जी ने अपने पिता जी और लाला लाजपतराय के जीवन का भी बहुत व्यापक रूप से वर्णन किया है। वे लिखते है कि दोनों का कार्य क्षेत्र विशेष रूप से पंजाब रहा और दोनों ही नेता आर्य समाज के सिद्धान्तों में आस्था रखने वाले थे। दोनों नेताओं ने अपने जीवन की आहुति राष्ट्र यज्ञ में दी। दोनों की तुलना करते हुए इन्द्र जी लिखते है कि "जब मैं अपने पिता जी और लाला लाजपत राय के पारस्परिक संबंधों के विषय में अपनी स्मृतियों को इकट्ठा करके देखता हूँ, तो मुझे जंगल के दो शेरों की लोकोक्ति याद आती है। यह स्पष्ट है कि वे एक दूसरे की शक्ति को पहचानते थे, एक दूसरे का आदर करते थे और इसलिए साथ-साथ रहना पसंद करते थे। गुरूकुल में स्वामी और लाला जी भाई-भाई की तरह गले से गले मिलकर रहे थे। वे दोनों ऐसे थे जिनकी तबियत में परस्पर समानताएं असमानताओं की अपेक्षा बहुत अधिक थीं। यदि समानताएं ९० प्रतिशत थी तो असमानतायें १० प्रतिशत ही थी। उन्हें

परिस्थितियों ने अलग-अलग मोर्चे पर खड़ा कर दिया था। सन् १९२६ में कौन्सिलों का चुनाव हुआ था, जिसमें इन्द्र जी ने अपने स्वतंत्र विचारों के अनुसार कांग्रेस का पक्ष ग्रहण किया था। स्वामी जी और लाला लाजपतराय जी ने नेशनलिस्ट पार्टी का समर्थन किया था। लाला जी ने इन्द्र जी पर नेशनलिस्ट पार्टी के लिए कार्य करने के लिए दबाव डाला था परन्तु इन्द्र जी अपने निश्चय पर दृढ़ रहे और उन्होंने बहुत विनम्र शब्दों में लाला जी से कहा "मेरे लिए आपकी आज्ञा उतनी ही बड़ी है जितनी कि स्वामी जी की परन्तु ऐसे मन्तव्य संबंधी विषय में स्वामी जी ने मुझे सदा स्वतंत्र रखा है।" फलतः इन्द्र जी ने दोनों महापुरुषों के निवेदन करने पर भी अपने मन्तव्य को नहीं बदला।

इस पुस्तक में अंतिम अध्याय 'बलिदान' शीर्षक से है। पहला अंश स्वामी जी के बलिदान की उन परिस्थितियों का वर्णन है जिसके कारण स्वामी श्रद्धानंद जी का बलिदान हुआ। दूसरे भाग में अपने शोक-संताप को बड़ी मार्मिक भाषा में व्यक्त किया है। स्वामी जी ने अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा के अधिवेशन के लिए जो संदेश भेजा था वह आज भी नितांत प्रासंगिक है। वे लिखते हैं "ओन हिन्दू मुस्लिम यूनिटी डिपेन्डस् फ्यूचर वेल बींइग आफ इंडिया" अर्थात हिन्दू-मुसलमान एकता पर ही भारत का सुन्दर भविष्य निहित है। अपने पिता जी के अवसान के बाद इन्द्र जी ने जो विचार व्यक्त किये है वे इस प्रकार है "मैंने अनुभव किया है कि मैं अकेला ही रह गया, मेरे बड़े भाई पहले ही विलायत जाकर लापता हो चुके थे। पिता जी चले गये और अब इस तूफानी दुनिया में आकाश और पृथ्वी के बीच मैं अकेला लटकता रह गया हूँ। मेरे मन में यह भाव आते रहे, मेरा वह कृत्रिम लज्जा का स्थिर भाव जाता रहा और आँसू मानों बांध तोड़कर बह निकले।"

ऐतिहासिक रचनाएँ

इतिहास

पंडित इन्द्र जी की शैशव से ही कथा कहानियों में गहरी रूचि थी। पंचतंत्र और हितोपदेश की कहानियों तो उन्होंने अपने शैशव में ही पढ़ ली थी, किन्तु यथार्थ इतिहास के अध्ययन से उनके मन में एक ऐसी उत्कंठा पैदा हुई कि उन्होंने अपने देश के तथा विदेश के इतिहास पुरूषों का अध्ययन करना प्रारंभ किया। देश-विदेश के अनेक साम्राज्यों की कहानियों में उनकी गहरी रूचि होती चली गई फलतः उन्होंने कई विदेशी वीर पुरूषों की जीवनियाँ लिखी। वे जीवनियाँ भी उनके इतिहास विषयक रूचि का ही प्रमाण है। इतिहास में नाना प्रकार की घटनाएं होती है और उनका इतिवृत्त दो प्रकार से लिखा जाता है। पहला इतिवृत्त तिथि क्रम से प्रामाणिक आधार पर तैयार किया जाता है, तथा दूसरे प्रकार का इतिहास जनश्रुतियों, किंवदंतियों तथा पारंपरिक

प्रचलित कथा-कहानी से एकत्र किया जाता है। पंडित इन्द्र जी ने इतिहास की कई पुस्तकें लिखी। यदि उनकी जीवनी साहित्य को जिसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं इतिहास से पृथक कर दे तब भी उनके इतिहास विषयक कई सुन्दर ग्रन्थ हमारे सामने आते हैं। उनमें बहुचर्चित इतिहास ग्रंथ है। "मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण"। यह इतिहास ग्रन्थ वृहादाकार है और इसके चार खंड है। इस प्रकार दूसरा इतिहास ग्रन्थ है। "भारत के स्वाधीनता संग्राम का इतिहास", "कांग्रेस का इतिहास" आदि। इतिहास ग्रन्थों की इस सूची को देखकर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन्द्र जी ने मुगल सम्राज्य का इतिहास लिखते समय उसके क्षय और विनाश पर अधिक ध्यान दिया है।

सामान्यतः इतिहास में दो प्रकार की घटनाएँ होती है। महापुरुषों का अधः पतन और साम्राज्य का क्षय। गगनस्पर्शी अट्टालिओं का भू-पर गिरकर मिट्टी में मिल जाना यह एक असाधारण घटना समझी जाती है। इस घटना को सहज में लोग भूल नहीं सकते हैं। इन विध्वंसकारी घटनाओं को सुनकर या पढ़कर संसार की अस्थिरता, लक्ष्मी की चंचलता और सौभाग्य की क्षण-भंगुरता का पाठ मिलता है। महापुरुषों के उदय-अस्त और साम्राज्यों के निर्माण और क्षय में इस प्रकार की घटनाओं की बहुतायत रहती हैं। इस प्रकार के इतिहास जातियों के अतीत को सामने लाकर वर्तमान और भविष्य के लिए संदेश देते हैं। इधर पिछलें ८०० वर्षों में भारत में कई साम्राज्य बने और नष्ट हो गये। भारत में उन सब में मुगल साम्राज्य का विशेष महत्त्व है। मुगलों से पूर्व मुसलमानों के कई वंशों ने भारत को जीतने का प्रयत्न किया, किन्तु उनके प्रयास पूर्ण रूप से सफल नहीं हो सके। मुगल वंश के बादशाह दूर देश के रहने वाले थे और वे विजय की कामना से यहाँ रहते हुए उन्होंने अपना साम्राज्य यहाँ तक बढ़ा दिया कि भारत का थोड़ा सा कोना ही शेष रह गया। मुगल साम्राज्य का उदय प्रचंड वीरता और साहस तथा सफलता के लिए तथा उसका क्षय सांपत्तिक उपभोग से उत्पन्न होने वाली घोर विलासिता और सफलता के मद से जन्म लेनेवाली असहिष्णुता के लिए अपना सानी नहीं रखती। शायद रोमन साम्राज्य का उदयास्त ही परस्पर गुण-अवगुणों की तथा वीरता में उनकी थोड़ी बहुत समानता कर सकता हैं।

मुगल साम्राज्य और उसका क्षय और उसके कारण चार भागों के इतिहास में केवल मुगल साम्राज्य के क्षय की कहानी ही वर्णित है। यही कारण है कि यह इतिहास मोहम्मद गोरी या बाबर से आरंभ न होकर अकबर के राज्यारोहण के साथ आरंभ होता है। अकबर ने मुगल साम्राज्य को वैभव की ऊँचाइयों तक पहुँचाया तथा जहाँ से उसका अधः पतन प्रारंभ होकर पतन हुआ। अकबर के राज्यारोहण से प्रारंभ होकर यह कहानी सन् १८५७ के विद्रोह के परिच्छेद के साथ समाप्त होती है। जहाँ अकबर

के उत्तराधिकारी राजकुमारों का एक साधारण अंग्रेज़ अफसर ने अकबर के पिता हुमांयू के मकबरे की छाया में गोलियों से मारकर खाई में फेंक दिया था।

लेखक ने इस इतिहास को चार भागों में विभक्त किया है। प्रथम भाग में अकबर के राज्यारोहण से औरंगजेब के राज्यारोहण तक का वर्णन है, यह यौवनकाल है। द्वितीय भाग प्रौढ़ावस्था तथा क्षय का प्रारंभ है, औरंगजेब के राज्यारोहण से शिवाजी की मृत्यु तक तृतीय भाग, 'क्षीणता और विनाश'। औरंगजेब के उत्तराधिकारियों के बीच साम्राज्य की रक्षा के लिए किए गए व्यर्थ प्रयत्न। चतुर्थ भाग अंतिम झलक और समाप्ति। वैसे इन्द्र जी ने १९२५ ई० में इस पुस्तक के लिखने का संकल्प किया था। दो वर्ष तक सामग्री संकलन किया और यह इतिहास लिखना शुरू कर दिया। १३ दिसम्बर, १९२८ के दिन दिल्ली की अदालत ने उन्हें साढ़े तीन वर्ष की कठोर कारावास का दंड देकर लेखक को बंद कर दिया गया। बाद में सेशन की अपील पर यह कारावास का दण्ड ६ मास का रह गया। जेल में ही इन्द्र जी ने जेलर से प्रार्थना करके इसे लिखने की अनुमति प्राप्त कर ली थी। इस प्रकार इस ग्रन्थ का पहला भाग लगभग तीन मास में उन्होंने पूरा किया। सन् १९३० में महात्मा गाँधी का असहयोग आन्दोलन जोर पकड़ रहा था और इन्द्र जी को पकड़कर दिल्ली जेल में कैद कर दिया गया। पुस्तक का दूसरा भाग दूसरी जेल यात्रा का फल है। दूसरे भाग के कुछ ही पृष्ठ छप पाये थे कि भारत सरकार ने उन्हें पुनः ६ महीने के लिए मुल्तान जेल में बंद कर दिया। तीसरे भाग की सामग्री उन्होंने वहाँ पूरी की थी। इस इतिहास पुस्तक के बारे में इन्द्र जी ने पाठकों से जो निवेदन किया है वह इस प्रकार है "यह पुस्तक जो कुछ है, समझ कर पढ़ने से इसे समझा जा सकेगा। न तो यह स्कूल की पाठ्यपुस्तक है कि हर तरह की ज्ञातव्य बातों से इसे ठसाठस भर दिया जाए और न यह इतिहास के प्रोफ़ेसर की डायरी है कि लेखकों के नाम धाम और पृष्ठ संख्या से इसे भारी भरकम बनाया जाय। इस ग्रन्थ का उद्देश्य इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना की सहायता से उन सिद्धान्तों की व्याख्या करना है जिनके अनुसार राज्य बनते और बिगड़ते हैं। किताब आम जनता के लिए लिखी गई है इस कारण मैंने यत्न किया है कि इसकी भाषा सुबोध और सर्वसाधारण के योग्य हो।"

चार भागों में फैला हुआ यह मुगल साम्राज्य का इतिहास अकबर के राज्यारोहण से प्रारंभ होता है। इन्द्र जी ने मुगल साम्राज्य को महत्त्वपूर्ण कहा है। इन्होंने इसके आधार पर पर्व भी बना दिये हैं। उनकी मान्यता है कि यह एक रक्तरंजित सिंहासन था, जिस पर अकबर और उनके परवर्ती शासक आसीन हुए/इतिहास लिखने की उनकी शैली बहुत ही रोचक और घटना प्रधान है। इन घटनाओं पर इन्द्र जी ने विशेष ध्यांन

दिया है जो उस समय दिल्ली दरबार के विषय में जनता में प्रचलित थी और बाद में उनका उल्लेख इतिहासकारों ने प्रायः नहीं किया।

अकबर की राजनीतिक सूझ-बूझ का वर्णन भी इस इतिहास ग्रन्थ में है। उसके द्वारा किये गये राजनीतिक सुधार कार्यों तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए दीने-इलाही के जन्म से बहुत सी बातें सामने आती हैं। उसने कुछ उदारता के कार्य भी किये थे जिससे वह लोकप्रिय शासक बन गया था। ऐसी घटनाएं इस इतिहास में बहुत संदर्भ पूर्वक लिखी गई है। १६ सौ ईस्वी के आसपास की एक तालिका भी दी गई हैं। जिसमें एक रुपये मूल्य में कितनी वस्तु खरीदी जा सकती थी। नमक एक रुपये का ६९ सेर, तेल १४ सेर, घी एक रुपये का ७ सेर, दूध ४४ सेर, चावल १० सेर, घटिया चावल ५२ सेर। इसलिए उस समय मजदूरी एक आना, दो आना के बीच ही होती थी। अकबर के शासन काल की त्रुटियों पर भी इन्द्र जी ने गम्भीरता के साथ विचार किया है। तीसरे और चौथे खण्ड में उन्होंने मराठों और नादिरशाह के आक्रमण आदि का बड़ी रोमाचंक शैली में वर्णन किया है। मुगल साम्राज्य की जर्जरित दशा को यदि विस्तारपूर्वक जानना हो तो इस इतिहास के चारों खण्ड पठनीय है। इन्द्र जी ने इतिहास के बाह्यरूप पर, जिसे तिथि स्थान आदि कहते हैं, विशेष ध्यान नहीं दिया है। घटनाओं को केन्द्र में रखकर उन्होंने बहुत सुन्दर वर्णन किया है।

'भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय'

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के उदय पर मेजर बी० डी० बसु द्वारा लिखे राइज एण्ड फॉल ऑफ ब्रिटिश एम्पायर इन इंडिया से साम्रगी का चयन करके उसको नये रूप में प्रस्तुत किया गया है। सन् १९२५-२६ में पंडित सुन्दर लाल ने भारत में अंग्रेज़ी राज शीर्षक से दो भागों में एक पुस्तक लिखी थीं। जो उस समय ब्रिटिश सरकार ने जब्त कर ली थी। किन्तु १० वर्ष के बाद जब्तगी उठा ली गई और वह पुनः प्रकाशित हुई। इन्द्र जी का इतिहास इससे पहले लिखा गया था, किन्तु उसमें घटनाओं का विस्तार नहीं था। किस प्रकार से अंग्रेज़ सरकार के आदमी साधारण व्यापारी के रूप में भारत में आये और धीरे-धीरे उन्होंने व्यावसायिक भूमिका में परिवर्तन लाना शुरू किया। अंग्रेज़ व्यापारी जहाँ-जहाँ गये वहाँ उनकी दृष्टि केवल वाणिज्य व्यवसाय तक सीमित नहीं रही, वरन् उन्होंने भारतवर्ष में अपने पैर जमाने का भी उपक्रम किया। पैर जमाने के लिए उन्होंने अपने क्रिश्चियन धर्म का भी आश्रय लेना प्रारंभ किया और ईसाईयत का प्रचार करने के लिए मिशनरियों को मद्रास, कलकत्ता, सूरत आदि स्थानों पर बुलाकर अपना कार्य प्रारंभ कर दिया। इन सब कार्यों से अंग्रेज़ों के खिलाफ भारत में सन् १८५७ में एक विद्रोहात्मक आन्दोलन हो गया था। अंग्रेज़

संशक थे और सावधान भी। इन्द्र जी ने अंग्रेजों की इस मानसिकता का बहुत गंभीरतापूर्वक वर्णन किया है और यह बताया है कि अंग्रेज व्यापारी शुद्ध व्यापारी न होकर छद्मवेश में भारत विजय के लिए आये लोग थे। वारेन हेस्टिंग्ज के जमाने तक इन लोगों के पैर हिन्दुस्तान में जम गये थे, और कलकत्ते में इन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य की नींव रखने के लिए कार्य किये। वह ब्रिटिश इंडिया कंपनी के इतिहास में वर्णित है। इन्द्र जी ने कंपनी का इतिहास भी बड़ी खोज के साथ प्रस्तुत किया है।

भारत के स्वाधीनता संग्राम का इतिहास

भारत के स्वाधीनता संग्राम का इतिहास दो भागों में विभक्त करके देखा जा सकता है। पहले भाग में हम इतिहास को स्थान दे सकते हैं जो सन् १८५७ के विद्रोह के समय तक हुआ था। दूसरे खंड में १८८५ का इतिहास कांग्रेस की स्थापना के बाद का इतिहास है। इन्द्र जी ने बीसवीं शताब्दी के स्वाधीनता संग्राम के इतिहास को तो प्रत्यक्ष रूप से देखा हुआ था किन्तु पहले का इतिहास उन्होंने ऐतिहासिक ग्रन्थों से ही जाना था। उनकी जानकारी के पीछे तथ्य तो थे ही, किन्तु उनकी राष्ट्र भक्ति भी काम कर रही थी। इसलिए उन्होंने अपने इतिहास में राष्ट्रभक्ति के आधार पर उन वीर-बहादुर योद्धाओं को स्वाधीनता संग्राम में स्थान दिया है जो कि देश को स्वतंत्र करने के लिए पहले अंग्रेज़ों से युद्ध कर चुके थे। बीसवीं शताब्दी का इतिहास तो प्रारंभ में सुधार परक कार्यों का इतिहास है जिसमें तत्कालीन नेताओं ने जनता को जाग्रत करने का प्रयास किया था। हरेक प्रान्त में इस प्रकार के महापुरूष उत्पन्न हो गये थे। जिन्होंने देश के उद्धार के लिए जो काम किये उनका परिणाम स्वाधीनता प्राप्ति की दिशा में ही देखा जा सकता है। स्वामी दयानंद, स्वामी विवेकानंद, लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, गोपालकृष्ण गोखले, आदि ने जो समाज सुधार मूलक कार्य किये थे उनका लक्ष्य भी स्वतंत्रता प्राप्ति की ओर ही था। प्रत्यक्षतः ऐसा कोई आन्दोलन वे लोग नहीं कर सकते थे। पहले लोकमान्य तिलक ने स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है, यह मूल मंत्र देशवासियों को दिया था और ब्रिटिश शासक इस मंत्र से विचलित भी हो गये थे। किन्तु महात्मा गाँधी के राजनीतिक क्षितिज पर अवतरित होते ही स्वाधीनता संग्राम ने नया रूप धारण कर लिया था। उस समय तक प्रथम विश्व युद्ध भी प्रारंभ हो गया था और हमारा देश विपन्न स्थिति में था। प्रथम विश्व युद्ध समाप्त होते ही भारतीयों का ध्यान अपनी स्वंतत्रता प्राप्ति की ओर गया, लेकिन अंग्रेज़ शासकों ने जो वचन दिया था उसके अनुसार उन्होंने कोई सुधार कार्य नहीं किया। फलतः सन् १९२१-२२ से महात्मा गाँधी ने असहयोग आंदोलन प्रारंभ किया और यहाँ से स्वाधीनता का संग्राम नया रूप धारण करता गया। इस इतिहास का सम्पूर्ण विवरण स्वाधीनता प्राप्ति के प्रयत्न से १९४७ तक के दौर तक किया गया है। इस इतिहास को हम इस

दृष्टि से प्रामाणिक कह सकते है कि इसमें लगभग ५० वर्ष का इतिहास तो इन्द्र जी की आँखों के सामने ही घटित हुआ है, उसका वर्णन उन्होंने किया है।

आर्य समाज का इतिहास

पंडित इन्द्र जी ने आर्य समाज का इतिहास तीन खंडों में लिखने का निश्चय किया था। स्वामी श्रद्धानन्द जी भी आर्य समाज का इतिहास लिखना चाहते थे और उन्होंने इतिहास विषयक विपुल सामग्री एकत्र कर ली थी किन्तु समयाभाव के कारण उसे लिख नहीं सके। इन्द्र जी ने उस सामग्री का अपने इतिहास में उपयोग किया क्योंकि वह सामग्री अत्यन्त उपयोगी और अन्यत्र दुर्लभ थी। इस इतिहास की विशेषता यह है कि इसका प्रारंभ वैदिक धर्म के मूल मतव्यों से होता है। धर्म का मूल स्तोत्र इस इतिहास के प्रथम खंड का पहला परिच्छेद है। द्वितीय परिच्छेद में आर्यावर्त की दो धाराएँ तथा तीसरी पारसी धर्म की धारा का वर्णन है। यद्यपि यह वर्णन प्रत्यक्ष तौर पर आर्य समाज के इतिहास का अंग नहीं है किन्तु वैदिक धर्म से जुड़े होने से इसे हम आर्य समाज के आदि स्रोत के रूप में देख सकते हैं। आर्य समाज के इतिहास का प्रथम खंड सन् १९२४ में प्रकाशित हुआ। शेष दो खंडों की योजना बाद में बनीं। किन्तु प्रथम खंड की साम्रगी में ऐसी ज्ञातव्य सूचनाएँ है जो अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। यह इतिहास भी अब दुर्लभ है।

महर्षि दयानंद सरस्वती की जीवनी को उन्होंने भारत के इतिहास का ही एक अंश माना है और स्वामी जी का वर्णन करते हुए उन्होंने भारत की तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, तथा आर्थिक स्थिति का वर्णन बड़े विस्तार से किया है। उन्होंने भारत की तत्कालीन स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है कि "भारत देश उस समय अज्ञान, पराधीनता, आर्थिक शोषण और दुखों के कारण सर्पों और कांटेदार झांड़ियों से भरा हुआ खांडववन, निर्जन और बीहड़ हो रहा था। उसे आवश्यकता थी एक अर्जुन की जो एक ओर अरणियों की रगड़ से आग निकालकर दावानल को प्रज्ज्वलित करें और दूसरी ओर आग बुझाने वाले देवों तथा आक्रमण करने वाले असुरों का उत्तर दे सकें। भारत की दुर्दशा उस समय एक सुधारक को बुला रही थी। वह एक ऐसे व्यक्ति को बुला रही थी जो उसके पीड़ित अंगों पर शांति देने वाला हाथ रख सकें।" एक और उदाहरण देखिए सप्त स्रोत पर खड़े होकर जरा उत्तर की ओर दृष्टि उठाइये पर्वत के पीछे पर्वत, जंगल के ऊपर जंगल, यही क्रम बराबर चला गया है। यहाँ तक कि हिमालय की गगनभेदी चोटियाँ चांदी का पिघला हुआ प्रवाह घाटियों, कन्दराओं और तलहटियों के पास से होकर गुजरता है। जल क्या है? नीलमणियों की छवि से प्रतिबिम्बित शुद्धतम अमृत है। जैसी शीतलता सोने में, सुगन्ध से समान है। एक ओर यह मन और तन को प्रसन्न और उन्नत करने वाले दृश्य दूसरी ओर परमात्मा ने इतना

सुन्दर बनाया है, उसे मनुष्य ने कितना बिगाड़ दिया है। जिसे मनुष्य नहीं बिगाड़ सका, वहीं सुन्दर है। ईश्वरीय सुन्दरता और मानवीयता के दृश्य देखकर यदि युवक दयानंद के हृदय में एक उग्र ज्वाला नहीं भड़क उठती तो निःसन्देह पाषाण ही सिद्ध होते"

राजनीतिक साहित्य

इन्द्र जी राजनीतिक कृतियों में 'भारत का सचित्र संविधान', 'राष्ट्र की उन्नति', 'राष्ट्रीयता का मूलमंत्र', 'स्वतंत्र भारत की रूपरेखा', 'जीवन संग्राम प्रमुख' हैं। इन कृतियों में इन्द्र जी की युवावस्था के विचार ही सामने आते हैं, किसी गंभीर अथवा किसी राजनीति शास्त्र का बोध नहीं होता है। उन्होंने राजनीति के विषय में जो विचार अपने विद्यार्थी जीवन में बनाये थे, उन्हीं को इन पुस्तकों में अपनी भाषा में लिख दिया है। राजनीति शास्त्र का बीसवीं शताब्दी में जैसा विकास हुआ है उसका कोई तात्विक विश्लेषण इन्द्र जी की पुस्तक में नहीं है। इसलिए हम इन्हें महत्त्वपूर्ण पुस्तक नहीं समझते हैं। पत्रकारिता के क्षेत्र में आने के बाद इन्द्र जी ने राजनीति विषयक सैकड़ों लेख लिखे किन्तु उन लेखों को एकत्र कर संकलन नहीं किया गया, उस कारण उनके राजनीति विषयक विचारधारा को सही रूप में देखा नहीं जा सका है। यदि दैनिक 'अर्जुन' में प्रकाशित उनके लेखों को संकलित किया जाता तो तत्कालीन भारत की राजनीति तथा विदेशों की राजनीति में होने वाले परिवर्तनों को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता था। यह एक चिन्ता का विषय है कि दैनिक 'अर्जुन' की पुरानी फाइलें कहीं सुरक्षित नहीं है। इन्द्र जी जैसे प्रसिद्ध पत्रकार के लेखों का संग्रह नहीं हो सका अतः उनकी राजनीति विषयक विचारधारा पूर्णतः सामने नहीं आ सकी।

विविध विषय लेखन

इन्द्र जी ने साहित्य से इतर विषयों पर भी कई पुस्तकों का प्रणमन किया जिनमें 'असाध्य रोगों की चिकित्सा', 'स्वराज्य और चरित्र निर्माण', 'आधुनिक भारत में वक्तव्य कला की प्रगति', 'भारतीय संस्कृति का प्रवाह', 'उपनिषदों की भूमिका', 'कौटिल्य का अर्थशास्त्र', 'प्राचीन भारत में स्त्रियों की स्थिति', आदि ऐसी प्रमुख पुस्तकें हैं जो उन्होंने सामान्य विषय को ध्यान में रखकर समय-समय पर लिखीं थीं। इन पुस्तकों का लेखन सोदेश्य था 'असाध्य रोगों की चिकित्सा' जैसा विषय चिकित्सा शास्त्र से सम्बन्ध रखता है। इसका इन्द्र जी के जीवन से सीधा कोई सम्बन्ध नहीं था किन्तु उन्होंने अपने जीवन के अनुभवों के आधार पर इस पुस्तक की रचना की थी। 'उपनिषदों की भूमिका' तथा 'इशोपनिषदभाष्य'। ये उपनिषद साहित्य को प्रकाश में लाने के लिए और जनसामान्य को पठनीय बनाने के उद्देश्य से लिखी गई थी। उपनिषदों की भूमिका में विशेषता यह है कि हम उपनिषद जैसे गम्भीर ग्रन्थ को समझ सकें और उसके सारतत्व को

ग्रहण कर सकें। इस पुस्तक से उपनिषद को समझने में बहुत सहायता मिलती है। इन्द्र जी ने भारतीय संस्कृति के संबंध में भी जिन पुस्तकों की रचना की थी वे भी सोद्देश्य है। 'भारतीय संस्कृति का प्रवाह' एक नवीन जीवन दर्शन को सामने लाने वाली पुस्तक है। सामान्यतः भारतीय संस्कृति जिसके सम्बंध में कुछ रूढ़िगत मान्यताएँ प्रचलित है और इससे भारतीय संस्कृति और साहित्य का सही बोध नहीं होता है। लोग समझते है कि भारतीय संस्कृति कोई रूढ़ या प्रतिक्रियावादी संस्कृति रही होगी। इन्द्र जी ने इस विचारधारा का तर्कसंगत खंडन करते हुए भारतीय संस्कृति के अविरल प्रवाह को बहुत स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है । इन पुस्तकों को पढ़ने से स्पष्ट होता है कि भारतीय संस्कृति की परम्परा वैदिक काल से लेकर आज तक किसी न किसी रूप में सतत प्रवहमान रही है। परिवर्तन उसमें अवश्य आये और परिवर्तनों का आना स्वाभाविक भी था, किन्तु भारतीय संस्कृति सभी परिवर्तनों को सहेजती हुई आगे बढ़ती गई है। इसलिए आधुनिक युग में पाश्चात्य विचारधारा वाले लोग भारतीय संस्कृति को कम्पोजिट कल्चर के नाम से पुकारते है। वास्तव में यह संस्कृतियों का समायोजन ही कम्पोजिट कल्चर है। इसमें पूर्व और पश्चिम तथा बाह्य प्रदेशों से आई जातियों के सम्मिश्रण से जो परिवर्तन आये हैं उनको रेखांकित किया जा सकता है।

इन्द्र जी ने भारतीय संस्कृति के रूप को बहुत ही सुन्दर शैली में प्रकट किया है। प्राचीन भारत में स्त्रियों की स्थिति के विषय में लोगों में बहुत भ्रम है। लोग समझते है कि यहाँ अंधविश्वासी रूढ़िगत पराधीन स्त्रियाँ रही होगी। किन्तु तथ्य यह नहीं है। इन्द्र जी ने प्रमाण पुरस्कार भारतीय नारी का रूप अंकित किया है। वह पुरातन युग में मान-मर्यादा की रक्षा करने के लिए स्त्रियाँ के सर्वथा उचित है। यहाँ उपनिषद के वर्ग में गार्गी जैसी स्त्रियाँ है वहीं रामायण काल में सीता, कौशल्या जैसी नारियाँ भी हैं। पौराणिक काल की सावित्री, दमयंती, कुन्ती जैसी नारियों का भी भारत में पूजनीय स्थान रहा है। भारत की नारी शोषित या पीड़ित नहीं थी। मुगल आक्रमण के बाद कुछ ऐसी प्रथायें इस देश में प्रचलित हो गई जिनके कारण नारी को एक सीमित दायरे में रहने को बाध्य कर दिया गया। पर्दा प्रथा जैसा अभिशाप एक उदाहरण है। मुगल काल के अंतिम दिनों में रानी दुर्गावती और लक्ष्मीबाई के चित्र भी प्रस्तुत किये गये है। इस पुस्तक के माध्यम से इन्द्र जी ने भारतीय संस्कृति के उस रूप को स्पष्ट कराना चाहा है जो कि पुरातन के अनुसार **"यत्रनार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः"** को सिद्ध करता है।

"कौटिल्य का अर्थशास्त्र"

इस ग्रन्थ को इन्द्र जी ने अपनी भाषा में प्रस्तुत किया है। अर्थशास्त्र विवेचना

में चाणक्य का नाम प्रांसगिक माना जाता है। उनके अर्थशास्त्र में केवल आर्थिक विषय की विवेचना ही नहीं है वरन शास्त्र विद्या, राजनीति, प्रशासन, धर्म, नीति, व्यवहार आदि का भी विस्तृत विवेचन है। इन्द्र जी ने इन सब विषयों को स्पष्ट करते हुए कौटिल्य के अर्थशास्त्र को हिन्दी में प्रस्तुत किया है।

विविध विषयों के विवेचन में संस्कृत में लिखे गये उनके ग्रन्थों का भी उल्लेख कर सकते हैं। पहला बड़ा ग्रन्थ उनका "भारतेतिह्यम् है। यह ग्रन्थ, जो उनका प्रिय ग्रन्थ है उन्होंने संस्कृत श्लोको में लिखना प्रारंभ किया था। जीवन के अंतिम दिनों तक वे इसके लिखने में संलग्न रहे, किन्तु दुर्भाग्य से वे इस को पूर्ण नहीं कर सके। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें वैदिक काल से लेकर मध्यकाल तक का इतिहास तो संक्षेप में लिखा गया है किन्तु पूर्ण नहीं होने से यह आधुनिक काल के विभिन्न परिवर्तनों को अपने भीतर समेट नहीं सका। यदि यह ग्रन्थ पूर्ण हो जाता तो निश्चय ही संस्कृत साहित्य की यह एक बड़ी उपलब्धि होती। इन्द्र जी ने संस्कृत साहित्य से संबधित 'रघुवंश' शीर्षक से भी एक ग्रन्थ की रचना की है। इसका उपजीव्य ग्रन्थ तो कालिदास का रघुवंश ही है। सम्राट रघु शीर्षक पुस्तक इसी इतिहास वर्ग की है किन्तु इसका आधार संस्कृत ही है। इसकी चर्चा हम संस्कृत के संदर्भ में कर रहे हैं। सम्राट रघु का जीवन जिस रुप में लिया गया है वह भारतवर्ष के सम्राटों के त्याग, तपस्या, बलिदान और प्रजा वत्सलता का एक उत्कृष्ट उदारहण है सम्राट का कर्तव्य और दायित्व प्रजा के प्रति क्या होता है। यदि यह जानना हो तो सम्राट रघु शीर्षक ग्रन्थ में वर्णित व्यक्तियों से यह जाना जा सकता है। संस्कृत में और अधिक ग्रन्थों की रचना करने का उनका ध्येय अधूरा रह गया।

"स्वराज्य और चरित्र निर्माण"

नामक पुस्तक इन्द्र जी ने उस समय लिखी जब हमारा देश स्वतंत्र हो गया था। नई-नई समस्याएं देश के सामने उपस्थित हो रही थी। तब इन्द्र जी को ऐसा लगा कि राष्ट्रीय चरित्र निर्माण के बिना देश स्वतंत्रता प्राप्ति के उद्देश्यों में पूर्णतः सफल नहीं हो सकता। आध्यात्मिक तथा मानसिक शक्तियों की सम्पन्नता के लिए राष्ट्र में शिक्षा की दिशा परिवर्तित नहीं की गई। भौतिक योजनाओं पर करोड़ों रूपया व्यय किया गया किन्तु शिक्षा जैसे मूल विषय पर मुख्य रुप से राष्ट्र के कर्णधारों का ध्यान नहीं गया है। कुछ लोग यह मानने लगे कि स्वराज्य तो मिल ही गया है अब नैतिक सिद्धान्तों और गाँधी के आध्यात्मिक मन्तव्यों पर ध्यान देना आवश्यक नहीं है। इन्द्र जी ने इस पुस्तक में निर्भयतापूर्वक अपने विचारों को पाठकों के सम्मुक रखा है और उनके मन में देश की तत्कालीन परिस्थितियों से उद्विग्नता बनी रही है। यह पुस्तक आज के संदर्भ में भी राष्ट्रीय नैतिक उत्थान के लिए परम उपयोगी है।

जिसे आजकल मीडिया या प्रचार माध्यम कहा जाता है उस पर भी चरित्र निर्माण की दृष्टि से विचार होना परमावश्यक है। समाचार पत्र, रेडियो कार्यक्रम, टी.वी. के कार्यक्रम यह सब भी शिक्षा की दृष्टि चरित्र निर्माण की दिशा में बहुत कारगर बनते हैं किन्तु वर्तमान समय में यह सब माध्यम नैतिकता का पाठ पढ़ाना और चरित्र स्तर को ऊँचा उठाना अपना कर्तव्य नहीं समझते। धनोपार्जन मीडिया के साधनों का लक्ष्य बन गया है। समाचार और सिनेमा केवल मनोरंजन के साधन ही नहीं होते वरन जनकल्याण के लिए भी इसका उपयोग होना चाहिए। इन्द्र जी ने स्पष्ट शब्दों में यह व्यक्त किया है कि देश के अग्रणी नेताओं का चरित्र पवित्र और अनुकरणीय होना चाहिए क्योंकि उनका चरित्र जनसाधारण के लिए प्रमाण बन जाता है। आज के नेताओं के विलासी जीवन पर इन्द्र जी ने प्रहार किया है।

वे लिखते हैं "स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात देश के नेताओं का जीवन विलासी बन गया है। हमारे अधिक सम्पन्न नेता अधिकाधिक प्राप्त करने पर श्रेय से प्रेय की ओर, त्याग से भोग की ओर तथा संयम से स्वच्छन्दता की ओर इस उत्सुकता से छलांग मारते हैं कि उसका देश के नैतिक वातावरण पर बहुत बुरा असर हो रहा है। इस विषय में देश के नेताओं को अधिक सचेत होना चाहिए। पंचवर्षीय योजनाओं में शिक्षा की उपेक्षा की जा रही है। इसका भी दुष्परिणाम हमारे देश पर पड़ रहा है।" उन्होंने इस पुस्तक में कुछ नेताओं के भाषणों के उपयोगी अंश भी उद्धृत किये हैं जिन्हें पढ़कर प्रतीत होता है कि हमारे देश के नेताओं में भी एक मन्तव्य नहीं है। उन्होंने लिखा है कि "मैं चाहता हूँ कि भारत की राष्ट्रीय सरकार गणतंत्र के लिए सार्वजनिक शिक्षा की आवश्यकता को अनुभव करके अपनी सेवा में उसे मुख्य स्थान दें। इस प्रकार 'स्वराज्य और चरित्र निर्माण' पुस्तक आज के संदर्भ में अत्यधिक प्रासंगिक और उपयोगी है। इस पुस्तक की भाषा में सरलता के साथ भाषा का सौष्ठव और प्रवाह लक्षित होता है वह सामान्य पाठक को भी आकर्षित करने वाली है। पुस्तक अत्यंत उपयोगी और प्रचार के योग्य है।

रुग्णावस्था और अन्तिम समय

इस प्रकार ७० वर्ष तक भारत माता की सेवा में संलग्न रहकर इन्द्र जी ने परमात्मा से एक प्रार्थना की थी

"यावत्में, जीवितं लोके, परार्थतद्भवेद् प्रभो, तावत् जीवितुंच्छिमि यावच्छक्नोमि सेवितुम्॥

अर्थात् जब तक मेरा संसार में जीवन है तब तक मैं परोपकार में लीन रहूँ और तब तक मैं जीना चाहता हूँ तब तक मैं समाज की सेवा करने योग्य बना रहूँ। ९ नवंबर, १९५९ को आपका ७१ वां जन्म दिवस मनाया गया। उन्हें ऐसा अनुभव होने लगा था कि अब उनका शरीर लम्बे समय तक साथ नहीं देगा। कारावास के समय मिट्टी मिली आटे की रोटी खाने से उनका आमाशय विकृत हो गया था, और उन्हें उदरशूल रहने लगा था। वहीं उनकी जीवन की अंतिम घड़ियों में कष्ट देने वाला सिद्ध हुआ। एक तरफ ये उदररोग वे पीड़ित थे और दूसरी तरफ महाभारत की शैली पर 'भारतेतिह्यम्' महाकाव्य लिखने में जुटे हुए थे। इस काव्य का तीसवां अध्याय इस रूग्णावस्था में ही समाप्त किया गया था। उनकी इच्छा थी कि मैं भारतवर्ष का सम्पूर्ण इतिहास इस ग्रन्थ में लिखकर पूरा करूँ, किन्तु उनकी इच्छा पूरी नहीं हो सकी। उन्होंने अपनी इस रूग्णावस्था का बहुत विस्तार से वर्णन किया है। १८ अप्रैल १८६० को उन्हें पेचिश शुरू हुई और १९ तारीख को कमर में दर्द आरंभ हो गया। २४ तारीख को ज्वर हो आया फिर ३० और ८ मई तक ज्वर ही बना रहा। ११ मई को निमोनिया का बड़ा आक्रमण हुआ और छाती के बांये भाग में बहुत जोर का दर्द उठा और इंजेक्शन लगाने पर ज्वर उतरा। १९ मई को पुनः ज्वर हो आया और २३ मई को निमोनिया का दूसरा आक्रमण हुआ और डा. सेन के नर्सिंग होम में भर्ती हो गये। नर्सिग होम में लगभग १२ घंटे अचेत रहे। १० दिन उन्हें नर्सिग होम रहना पड़ा। दशा में कुछ सुधार भी हुआ, उन्होंने लिखा है "मैंने इस बीमारी में देख लिया कि मृत्यु का द्वार कैसा है। जनवरी १९६० प्रभात होते ही गुरूकुल के निर्माणकार्य का निरीक्षण किया और गुरूकुल की विद्यासभा में स्वयं उपस्थित होकर अपने प्रस्तावों को स्वीकार कराया, लेकिन इस दोड़धूप में उन्हें गुरूकुल की हीरक जयन्ती का काम भी देखना पड़ा। २८ अप्रैल, १९६० को उन्हें फिर ज्वर हो गया। २८ जुलाई को वे

गुरूकुल छोड़कर दिल्ली आ गये। १७ अगस्त को बीमारी का फिर भयंकर आक्रमण हुआ, रात भर सिर और छाती में दर्द बना रहा। २० अगस्त को अपनी डायरी में यह अंतिम श्लोक लिखा —

"स्वकर्मणि शोषित काय यष्टि,
महालये मृत्यु मुखे प्रविष्टम,
तव प्रसादात्पुनराप्त शक्ति,
त्वमत्रसत्कर्मणि मां नियुक्ष्व।"

२३ अगस्त को इन्द्र जी को अनुभव हुआ कि उनके गले में कफ अटकना प्रारंभ हो गया है, जबान लड़खड़ाने लगी है, इसलिए पुनः डा० सेन के नर्सिग होम में चले गये वहाँ पर भी उनकी हालत अच्छी नहीं थी। २३ अगस्त की रात उनके लिए काल रात्रि सिद्ध हुई। यह कालरात्रि उनके जीवन की अंतिम रात्रि थी। इस प्रकार इन्द्र जी इस संसार की लीला को छोड़कर उस लोक में चले गये जहाँ से लौटकर कोई नहीं आता। इन्द्र जी के निधन का समाचार राष्ट्रपति महोदय को दिया गया। राष्ट्रपति महोदय ने इस दुखद समाचार को आकाशवाणी से प्रसारित करने का आदेश दिया और रेडियों से यह दुखद समाचार सर्वत्र प्रसारित किया गया। इस प्रकार ७१ वर्ष की आयु में इन्द्र जी का निधन हुआ। २४ अगस्त को राष्ट्रपति भवन से सम्मान में पुष्पमालाएँ आईं, प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू का फ़ोन भी आया कि वे स्वयं शव यात्रा में सम्मिलित होना चाहते हैं। किन्तु फूलों से सजी अर्थी कंधों पर थी, इसलिए लोग पंडित जी के आने का इन्तज़ार न कर सके। चन्दन की चिता में उनका पार्थिव शरीर रख दिया गया और निगम बोध घाट पर वह शरीर भस्म हो गया। इस प्रकार सरस्वती के परम साधक, समाज सुधारक, शिक्षा प्रेमी एक महापुरुष स्मृतिशेष हो गये।

उपसंहार

दिल्ली में हिन्दी पत्रकारिता के जनक थे पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति। दिल्ली की राजनीति में उस समय तीन वरिष्ठ नेता काम कर रहे थे – हकीम अजमल खाँ, डॉ. अंसारी और स्वामी श्रद्धानन्द, दूसरी पंक्ति के कार्यकर्ता थे बैरिस्टर आसफ़ अली, इन्द्र विद्यावाचस्पति और देशबन्धु गुप्त। पंडित इन्द्र जी अपनी विद्वता, नैतिक विचारधारा और कार्य निष्ठा के कारण अपने दोनों साथियों से वरिष्ठ थे किन्तु पद या यश की दौड़ में वे कभी भाग नहीं लेते थे। वे किसी कार्यकर्ता को धक्का देकर आगे बढ़ने, पद प्राप्त करने, यशस्वी बनने अथवा किसी का अंधानुकरण करने में विश्वास नहीं करते थे। राजनीतिक क्षेत्र में कार्य करते समय उनके मन में कभी औचित्य का परित्याग कर पहली पंक्ति में आने की स्पृहा पैदा नहीं हुई। एक ऐसा समय भी आया जब उनकी यशोकामना की परीक्षा हुई। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के जयपुर अधिवेशन के समय इन्द्र जी का नाम सभापति पद के लिए प्रस्तावित था। जनमत उनके साथ था क्योंकि पंडित जी राष्ट्रभाषा हिन्दी के अनन्य सेवक और साहित्यकार थे। इनके प्रतिद्वन्द्वी के रूप में इंडियन सिविल सर्विस के श्री मेहता का नाम था, मेहता जी हिन्दी प्रेमी तो थे किन्तु हिन्दी सेवा के क्षेत्र में उनका कोई विशिष्ट योगदान नहीं था। सम्मेलन के कुछ कार्यकर्ता उन्हें सभापति बनाकर एक सरकारी अधिकारी के माध्यम से अपनी पैठ सरकार में करना चाहते थे। पंडित इन्द्र जी ने इस पद के लिए अपनी ओर से जनमत प्राप्त करने के लिए किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं किया, प्रत्युत जो लोग इन्द्र जी को सभापति पद पर देखना चाहते थे उन्होंने आन्दोलनात्मक रूप में अनशन तथा सत्याग्रह आदि करने का भी बीड़ा उठाया। सम्मेलन के निर्वाचन मंडल ने उन्हें सभापति बनाने की इच्छा व्यक्त की किन्तु पंडित जी ने स्वतः अपना नाम वापस लेकर इस चुनाव प्रपंच को समाप्त कर दिया। इसके बाद भी पंडित जी सम्मेलन के साथ निरन्तर जुड़े रहे और हिन्दी साहित्य सम्मेलन सन् १९४० में हुआ। इस सम्मेलन के कार्यवाहक प्रधान इन्द्र जी ही थे। अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' इसके सभापति थे। सम्मेलन में एक विशाल स्तर पर कवि सम्मेलन हुआ था जिसकी गूंज वर्षों तक दिल्ली के वातावरण में बनी रही।

पंडित इन्द्र जी अपनी हिन्दी साहित्य सेवाओं के कारण नवम्बर सन् १९४८ में प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सर्वसम्मति से सभापति निर्वाचित हुए। उस समय

हिन्दी की सीधी टक्कर अंग्रेज़ी से शुरू हुई थी। अंग्रेज़ी के समाचार पत्र हिन्दी को पीछे धकेलने के लिए हिन्दी बनाम उर्दू, हिन्दी बनाम हिन्दुस्तानी आदि विभिन्न नामों से उलझा रहे थे। इन्द्र जी ने संविधान परिषद को भाषा संबंधी समस्या का हल करने में सब प्रकार से सहायता की ओर सम्मेलन के अध्यक्ष पद का कार्य अत्यन्त सुचारु रूप से सम्पन्न किया। इससे हिन्दी जगत् में दिल्ली की प्रतिष्ठा बढ़ी और दिल्ली के मत को हिन्दी जगत् का मत माना जाने लगा। यद्यपि यह सम्मेलन प्रान्तीय स्तर का था, किन्तु इन्द्र जी के सभापति होने के कारण इसमें पुरूषोत्तम दास टण्डन, मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री रविशंकर शुक्ल, पंडित बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सेठ गोविन्द दास आदि अनेक वरेण्य हिन्दी प्रेमियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में इन्द्र जी ने राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में अपने विचार बहुत ही स्पष्ट रूप से व्यक्त किए थे। उन्होंने कहा था – "इस समय देश की सबसे बड़ी आवश्यकता है कि सर्वसाधारण को शिक्षा दी जाए। केवल विद्यालयों से ही नहीं अपितु हरेक भारतीय भाषा में उत्तम तथा जीवन योग्य पुस्तकों की आवश्यकता पर ध्यान दिया जाये। यह कार्य क्यों पूरा नहीं होता इसका स्पष्ट उत्तर है कि स्वतन्त्र भारत में भी अंग्रेज़ी लिखना परम धर्म समझा जाता है। अंग्रेज़ी के लिए काम करने वाले बहुत हैं किन्तु उससे लाभ क्या है? इसलिए मैं अपनी भाषा में ही लिखूंगा, अपनी भाषा में ही भाषण दूँगा, अंग्रेज़ी लिखने के प्रलोभन में नहीं पडूँगा। मातृ भूमि और जनता की सेवा अंग्रेज़ी के द्वारा नहीं हो सकती, यह तो हिन्दी के द्वारा ही संभव है। हमारी दिमागी गुलामी का चिह्न है कि हम यूरोप में पढ़े हुए व्यक्ति की बड़ी प्रतिष्ठा करते हैं, गवर्नमेंट तो जानबूझ कर इसकी प्रतिष्ठा करेगी ही। इससे अंग्रेज़ी उपाधि वाले की प्रतिष्ठा बहुत अधिक होती है। विदेशी डिग्री की प्रतिष्ठा करना दिमाग़ी दासता है।" भारतीय भाषाओं के प्रति निष्ठावान होने के कारण पंडित जी ने सदा हिन्दी या संस्कृत में ही लिखा।

इन्द्र जी की विशेषता यह थी कि वे अपने सिद्धान्तों के प्रति अटल आस्था से कार्य करते थे। यदि उन्हें कोई ऐसा कार्य करना पड़ता जो दलगत नीति की दृष्टि से उचित होने पर भी इन्द्र जी को अपनी आत्मा के प्रतिकूल प्रतीत होता तो उसे स्वीकार नहीं करते थे। महात्मा गाँधी के सत्याग्रह सिद्धान्त से मतभेद होने पर उन्होंने कांग्रेस को छोड़कर स्वतन्त्र रूप से आत्म चेतना से कार्य करना श्रेयस्कर समझा। इन्द्र जी ने राजनीति से संन्यास नहीं लिया था किन्तु कुछ ऐसे सिद्धान्त अवश्य बना लिये थे जो आज के निर्वाचन-प्रणाली के मेल में नहीं थे। इसीलिए महात्मा जी से मतभेद होने पर भी राजनीतिक पार्टी के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि – "राजनीतिक पार्टी के सम्बन्ध में मेरा विश्वास है कि मनुष्य को उसका चुनाव उसी प्रकार करना चाहिए जैसे वर-वधू का चुनाव किया जाता है। चुनाव से पहले खूब सोच-विचार कर लेना चाहिए परन्तु एक बार चुनाव हो जाने पर जहाँ तक संभव हो तलाक न होना चाहिए। मैंने

राजनीति में कांग्रेस को प्रारम्भ से ही अपना लिया था और अब तक उसी में हूँ। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मैं कांग्रेस का गुलाम हूँ, मैं राजनीति के कार्य क्षेत्र में कांग्रेसी हूँ परन्तु पत्रकारिता के क्षेत्र में स्वतंत्र समालोचक हूँ।" कांग्रेस की सैद्धान्तिक आलोचना जिस निर्भीकता के साथ वे करते वैसे कोई दूसरा पत्रकार नहीं करता था। इस आलोचना के कारण उन्हें कांग्रेस छोड़नी पड़ी पर कांग्रेस छोड़कर उन्होंने किसी और दल की ओर नहीं ताका। महात्मा गाँधी के प्रति उनकी अनन्य निष्ठा थी किन्तु उनका कहंना था कि महात्मा जी के साथ कुछ ऐसे व्यक्ति जुड़ गए है जो उनके सिद्धान्तों की दुहाई के साथ निष्ठापूर्ण आस्था नहीं रखते। महात्मा गाँधी सत्याग्रह के लिए जिस प्रकार की मानसिक, वाचिक और कायिक अहिंसा की आवश्यकता समझते हैं वह एक अस्वाभाविक वस्तु है। उनका कहना था कि महात्मा जी को यह भ्रम है और इस भ्रम को पालने के लिए यहाँ महात्मा जी उत्तरदायी है वहाँ वे लोग उनसे भी बढ़कर उत्तरदायी है जो महात्मा जी अहिंसा को न मानते हुए भी उनके अनुयायी बने हुए है। कांग्रेस से त्याग पत्र देते हुए लिखा था कि "मेरा त्यागपत्र ईमानदारी से बेईमानी का अवलम्बन न करने के कारण है।"

मेरठ कांग्रेस अधिवेशन के समय सरदार पटेल ने कहा था कि तलवार का जवाब तलवार से दिया जाएगा। इन्द्र जी ने इस कथन का स्वागत करते हुए ३० दिसम्बर १९४६ को वीर अर्जुन के एक अग्र लेख में लिखा – "महात्मा गाँधी के नेतृत्व को मानने वाली कांग्रेस सदा '**ॐ शान्तिः शान्तिः**' का उच्चारण ही करती रही, यह पहली बार है कि कांग्रेस की व्याख्यान वेदी पर से शौर्य की ललकार सुनी गई है। जिन लोगों पर काल्पनिक शान्ति का गहरा असर हो चुका है, वह सरदार पटेल के वाक्य से आश्चर्य में पड़ गए हैं।" हिंसा अहिंसा के शास्त्रीय विवाद में अपना पक्ष स्पष्ट करने के लिए 'जीवन संग्राम' नामक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक के प्रारम्भ में उन्होंने विजय रहस्यम् शीर्षक से ग्यारह श्लोक लिखे हैं। उसकी एक पंक्ति है –"**सबला एवं जीवन्ति विलीयन्ते तु निर्बलाः।**"

जैसा कि प्रारम्भ में कहा गया है कि पंडित इन्द्र जी हिन्दी पत्रकारिता के पितामह थे और उन्होंने अपने जीवन में आधे दर्जन दैनिक तथा साप्ताहिक पत्रों का संपादन किया। इन्द्र जी ने अपनी शिक्षा पूरी करके जब सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया तब सन् १९१८ में दिल्ली से 'विजय' नामक एक पत्र निकाला। यह पत्र छपता था 'हैण्ड प्रेस' पर। पहले दिन सत्तर कापियां बिकी और वह प्रायः हिन्दी पढ़ने वाली लड़कियों ने लीं। तीन महीने में इनकी बिक्री १५०० तक पहुँच गयी। वह पत्र जितना छपता था उतना बिक जाता था। 'विजय' पहला राष्ट्रीय पत्र था, उस पर सरकार की कोप दृष्टि पड़नी ही थी जमानत मांगी गई, सेंसरशिप लगाया गया। फलतः पत्र बन्द हो

गया। उसके दो वर्ष बाद 'अर्जुन' निकाला। बाद में 'वीर अर्जुन' करना पड़ा। तीन बार 'वीर अर्जुन' से जमानत माँगी गई और अर्जुन के पाँच संपादकों को जेल यात्रा करनी पड़ी। इन्द्र जी भी इस सिलसिले में छः महीने जेल गए। इसलिए 'अर्जुन' के स्थान पर 'वीर अर्जुन' के नाम से डिक्लेरेशन लेना पड़ा।

इन्द्र जी ने सरकारी प्रतिबन्धों और जमानतों के कारण सन् १९४० में श्रद्धानन्द पब्लिकेशन लिमिटेड की स्थापना की और उसी की ओर से दैनिक वीर अर्जुन और साप्ताहिक वीर अर्जुन का प्रकाशन प्रारम्भ किया। सन् १९४७ में पंडित इन्द्र जी ने दिल्ली को हिन्दी पत्रकारिता में एक नया आयाम जोड़ा वह था मनोरंजन प्रधान साहित्यिकी 'मासिक मनोरंजन' का संपादन।

सन् १९५२ में इन्द्र जी दिल्ली से प्रकाशित हुए नए दैनिक जनसत्ता के प्रधान सम्पादक बने। सम्पादक बनने से पूर्व उन्होंने कुछ शर्तें रखीं। सबसे पहली शर्त तो यह थी कि मैं पत्र की संपादकीय नीति में सर्वथा स्वतंत्र रहूँगा। मैं उसमें किसी का हस्तक्षेप नहीं चाहूँगा, जिस दिन मेरी नीति में हस्तक्षेप किया जाएगा उसी दिन पत्र से सम्बन्ध विच्छेद कर लूंगा। दूसरी शर्त यह कि मेरा पत्र कार्यालय में, समय का कोई बंधन नहीं होगा। संपादकीय विभाग की पूरी जिम्मेवारी मेरी होगी। किन्तु जब उन्हें लगा कि पत्र का मालिक संपादकीय नीति में हस्तक्षेप करता है तब उन्होंने जुलाई १९५२ में जनसत्ता का संपादन यह कहकर छोड़ दिया कि –"आपने आश्वासन के विरुद्ध मेरी संपादकीय नीति में हस्तक्षेप करने का प्रत्यत्न किया है। अतः मैं त्यागपत्र देता हूँ।" अपने पत्रकार जीवन के अनुभवों का विवरण पंडित पद्म सिंह शर्मा कमलेश को दिए गए साक्षात्कार में स्पष्ट किया है। पंडित जी के मत में पत्रकार किसी भी प्रकार के हों, सफलता उन्हीं को मिलेगी जो स्पष्ट और डायरेक्ट लिखेंगे। अग्र लेख भी छोटा हो, एक या सवा कालम का। लिखते समय पत्रकार को पाठक का हृदय पकड़ने की कोशिश करनी चाहिए। दूसरी बात यह है कि पत्रकार को अपनी सम्मति की स्वतंत्रता को बचाना आवश्यक है क्योंकि पाठक ऐसे प्रभावशाली पत्र का आदर करते हैं जो निर्भीकता से सत्य का समर्थन करे। तीसरी बात यह है कि जो सम्मति बनाए, खूब सोच समझकर बनाए और उस पर अन्त तक दृढ़ रहे। क्योंकि वह जनता का सच्चा पथ प्रदर्शक है और चंचल बुद्धि होने से वह जनता का विश्वास खो बैठेगा। चौथी बात है उसका निष्पक्ष होना। उसे किसी पार्टी का वकील नहीं बनना चाहिए। ऐसा करने से वह संतुलन खो देगा और संतुलन खो देना पत्रकार की सफलता में सबसे बड़ी बाधा है। विदेशी में पत्रकार का स्थान मिनिस्टरों के बराबर माना जाता है। मैं तो उसे मिनिस्टरों से भी ऊँचा मानता हूँ क्योंकि मिनिस्टर सरकार की नीति से **बँधा** हुआ है और पत्रकार सर्वथा स्वतंत्र रहता है। जो पत्रकार वकील की तरह चाहे

जिस पार्टी का प्रचार करने लग जाता है वह पत्रकारिता के स्तर को नीचा करता है। यदि यही होता रहा और पत्रकार की स्वतंत्रता लुप्त हो गई तो पत्रकार की अन्त्येष्टि समझनी चाहिए। मेरी सम्मति में सफल वहीं हो सकता है जो निर्लोभी और तपस्वी हो।"

इसीलिए तपस्या सफलता का मूलाधार है। पत्रकार के सम्बन्ध में उनका मत था कि पत्रकार को व्यवसायी की भाँति आचरण नहीं करना चाहिए। पत्र तो जनता का शिक्षक होता है और वह लोकमत बनाता है। यदि हमने पत्र को धनोपार्जन का साधन बना लिया तो उससे समाज का अहित भी हो सकता है। 'मेरी पत्रकारिता के अनुभव' पुस्तक में उन्होंने केवल अपने स्वयं के अनुभवों तक ही पुस्तक को सीमित नहीं रखा है किन्तु पत्रकारिता के सिद्धातों पर भी अच्छा प्रकाश डाला है। पंडित जी पत्रकार के रूप में स्वयं कितने निर्भीक थे इसके कुछ उदाहरण इस पुस्तक में उपलब्ध होते हैं। अपने सम्पादकीय अग्रलेखों में पंडित जी देश के राजनेताओं से भी बहुत खुलकर अपनी बात कहने की शक्ति रखते थे। एक अग्रलेख में उन्होंने लिखा था कि राष्ट्र के नेताओं के सिर पर बहुत भारी उत्तरदायित्व है। शासन का काम अप्रिय हो तो भी उसे करना ही पड़ता है। यदि अप्रिय करने में डर लगता हो तो शासक को गद्दी का परित्याग कर देना चाहिए। स्थायी सरकार का सबसे प्रथम कर्तव्य यह है कि वह बिना विलम्ब गुण्डों और उनके नेताओं का दमन करके देश के निहत्थे, निरीह निवासियों के जान-माल की रक्षा करे। अपने माननीय नेता पंडित जवाहर लाल नेहरू से मेरा निवेदन है कि सीमा प्रान्त और सीमा प्रान्त से आगे समुद्र पार दृष्टि दौड़ाने से पहले देश की सीमाओं के अन्दर दृष्टिपात करे। यह ध्यान रखें कि देश में निरपराध पुरूषों, स्त्रियों और बच्चों पर प्रहार या जो भी अत्याचार होगा उसके लिए सरकार जिम्मेवार समझी जाएगी। मैं यह निवेदन देश की साधारण प्रजा का प्रतिनिधि बनकर अपने राष्ट्रीय नेताओं से कर रहा हूँ। संक्षेप में निवेदन यह है कि या तो दृढ़ता के साथ देश का शासन करो अथवा यह घोषणा करके कि वर्तमान शासन विधान रहते देश का प्रबंध करना संभव नहीं, सरकार की बागडोर वायसराय के हाथ में वापस दे दो। देशवासियों की हत्या में हिस्सेदार बनने से राष्ट्रीय नेताओं को कोई लाभ नहीं होगा। (अर्जुन का लेख, २९ अक्तूबर, १९४६)

भाषा और संस्कृति के सम्बन्ध में इन्द्र जी ने दर्जनों लेख लिखे जो उनकी पुस्तकों में संकलित हैं। भारतीय संस्कृति की रक्षा, हिन्दू राज की विभीषिका, कांग्रेस की मौलिक भूल, राष्ट्र के नेताओं की परीक्षा, कश्मीर पर संकट, भारतीयों को सशस्त्र बनाओ, साम्प्रदायिकता का बीज-नाश, राजदण्ड हाथ में लो, अंग्रेज़ चले गए परन्तु राष्ट्रीय गान कौन–सा हो, भारत का इंग्लैंड से सम्बन्ध आदि लेख आज भी अत्यन्त

प्रासंगिक है और इनका ऐतिहासिक महत्त्व तो है ही। प्रेस की स्वतंत्रता के विषय में इन्द्र जी वकालत करने वाले अग्रणी पत्रकार थे। दैनिक पत्रों के सम्पादकों में पंडित जी का सर्वोच्च स्थान था। पंडित इन्द्र जी बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। पराधीन भारत में हिन्दी माध्यम का विश्वविद्यालय संचालन का श्रेय भी पंडित जी को है। गुरुकुल कांगड़ी को विश्वविद्यालय बनाने में उनका नाम सदैव अमिट अक्षरों में अंकित रहेगा।

साहित्यिक क्षेत्र में इन्द्र जी ने जीवनी साहित्य के माध्यम से प्रवेश किया था। २२ वर्ष की आयु में नेपोलियन बोनापार्ट की जीवनी, उसके बाद प्रिंस बिस्मार्क और गेरीबाल्डी की जीवनी लिखी। सन् १९२७ में कारावास के समय 'मुग़ल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण' शीर्षक इतिहास चार भागों में लिखा। उसके बाद छह उपन्यास लिखे। संस्कृत के किरातार्जुनीयम काव्य का अनुवाद उन्होंने संस्कृत से हिन्दी में किया, वह अपूर्ण रह गया। छात्रावस्था में हिन्दी और संस्कृत में कविता करने में रूचि होने के कारण इनका सम्पर्क श्रीधर पाठक से हो गया था और उनकी हिन्दी कविताओं का संशोधन पाठक जी कर दिया करते थे। बड़ी आयु में हिन्दी कविता करना तो बन्द कर दिया किन्तु भारत का इतिहास संस्कृत में श्लोकबद्ध रूप से लिखा। रघुवंश के आधार पर सम्राट रघु का जीवन भी उन्होंने हिन्दी में लिखा। ईशोपनिषद का भाष्य, 'मुग़ल साम्राज्य का क्षय' उसके कारण जिस शैली में लिखा गया है वह एक सजीव कलाकृति बन गई है। आर्य समाज का इतिहास भी उन्होंने बड़े मनोयोग पूर्वक तैयार किया। उसके लिखने में भी बहुत लम्बा समय लगा किन्तु वह कार्य प्रामाणिक रूप से तैयार हो गया।

इन्द्र जी अपने जीवन के अंतिम समय तक भारत की विविध समस्याओं के साथ जुड़े रहे, जूझते रहे, उन पर लिखते रहे, अपने विचारों से समाज को प्रेरणा देते रहे। पंडित जी का साहित्यिक रचना संसार जितना व्यापक था उनकी रचनाधर्मिता भी उतनी ही विराट फलक पर फैली हुई थी। जब लेखक की दृष्टि पाठक के ज्ञानवर्धन और मनोरंजन से जुड़कर प्रतिभा का उपयोग करती है, तब उसकी कृतियों का लक्ष्य पाठक की चित्तवृत्ति का परिष्कार करना होता है। पंडित जी के लेखन में इस अन्तर्दृष्टि का संधान कठिन नहीं है। पंडित जी की शैली में विद्वत्ता, प्रांजलता, मार्दव और सौष्ठव के साथ पाठक को आकर्षण के सूत्र में बाँधने की अद्भुत कला लक्षित होती है। पंडित जी भारतीय मनीषा के प्रतीक आदर्शवादी, संस्कारी, बुद्धिवादी, विचारक और चिन्तक राष्ट्र पुरूष थे। उन्होंने राष्ट्र सेवा के लिए जिन क्षेत्रों में कार्य किया उनमें निस्वार्थ भाव से अपने वर्चस्व को सुरक्षित रखकर ही किया। उनका सम्पूर्ण जीवन आशावाद, ईश्वर, विश्वास, मनस्विता और अडिग दीप्ति से आलोकपूर्ण बना रहा। अर्जुन की दो प्रतिज्ञाओं पर पंडित जी की सच्ची निष्ठा थी – "**न दैन्यम् न पलायनम्**।" शुभ संकल्पजनित

कार्य के मार्ग की कठिनाइयों से घबराकर उसे बीच में छोड़ देना उन्होंने सीखा ही न था। पंडित इन्द्र जी तीन व्यक्तियों को अपना आदर्श मानते थे। पहले व्यक्ति थे महर्षि दयानन्द सरस्वती, जिनको वह अपना नीतिशास्त्र और आचार मर्यादा का गुरू मानते थे। दूसरे आदर्श व्यक्ति उनके पिता स्वामी श्रद्धानन्द, जिनको वे अपने प्रत्येक सत्कार्य की प्रेरक शक्ति मानते थे। स्वामी जी के प्रति उनके मन में आदर का भाव सदा बना रहा। शैशव में आदर और सम्मान के साथ आतंक भी था। उनकी खड़ाऊँ की आवाज़ को उनकी उपस्थिति मानते थे। तीसरे आदर्श व्यक्ति थे महात्मा गाँधी, जिन्हें वे राजनीति और राष्ट्रोत्सर्ग की दिशा में अपना पथ-प्रदर्शक मानते थे। राजनीति में उनका प्रवेश लोकमान्य तिलक के समर्पित जीवन को देखकर हुआ था, किन्तु तिलक जी का देहावसान हो जाने के बाद इन्द्र जी का उनसे निकट सम्पर्क नहीं बना। उसी समय भारत के राष्ट्रीय क्षितिज पर महात्मा गाँधी का उदय हुआ और वे उनके अनुयायी हो गए।

संक्षेप में, पंडित जी एक सच्चे राष्ट्र प्रेमी, सांस्कृतिक राष्ट्र पुरुष थे। बीसवीं शताब्दी में जिन महापुरुषों ने भारत को स्वाधीन बनाने और भारत की अस्मिता को पुनः स्थापित करने में योग दिया उनमें पंडित इन्द्र जी की गणना बड़े गौरव के साथ होती है। आर्य समाज के समाज सुधार के कार्यों में उनका ध्यान वैदिक धर्म के प्राचीन आदर्शों की ओर सतत बना रहा। उन्होंने धार्मिक कट्टरता या रूढ़िवादिता का कभी समर्थन नहीं किया। सनातन धर्म में स्वीकृत आदर्श ग्रंथों के प्रति उनका आदर भाव और उदार दृष्टिकोण बना रहा। भारतीय संस्कृति, राष्ट्रभाषा हिन्दी, पत्रकारिता, नैतिकता और जीवन जागृति, बल और बलिदान की भावना से उनका जीवन ओत-प्रोत रहा। इस नश्वर संसार से विदा होते समय भी उनका ध्यान इन सभी विषयों के प्रति था। २३ अगस्त १९६० को दिल्ली के सेन नर्सिंग होम में उनका निधन हुआ। अपने पीछे वे अपने आदर्शों की प्रतिष्ठा के लिए कई अनश्वर चिन्ह छोड़ गए हैं जिनमें गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हिन्दी पत्रकारिता, राष्ट्रीय जीवन में समर्पण की भावना और साहित्य सेवा का प्रमुख स्थान है।

परिशिष्ट

पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति द्वारा लिखित पुस्तकों की सूची

१. नेपोलियन बोनापार्ट की जीवनी (जीवन चरित्र), १९१२
२. उपनिषदों की भूमिका (दर्शन एवं भारतीय संस्कृति), १९१४
३. प्रिंस बिस्मार्क (जीवन चरित्र), १९१४
४. संस्कृत साहित्य का ऐतिहासिक अनुशीलन (साहित्य), १९१५
५. राष्ट्रों की उन्नति (राजनीति), १९१५
६. राष्ट्रीयता का मूल मन्त्र (राजनीति), १९१६
७. गैरीवाल्डी (जीवन चरित्र), १९१६
८. स्वर्ण देश का उद्धार (नाटक अप्राप्य), १९२१
९. महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र, १९२७
१०. मुग़ल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण १,२ (इतिहास), १९३०
११. मुग़ल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण ३,४ (इतिहास), १९३१
१२. अपराधी कौन (उपन्यास), १९३२
१३. शाह आलम की अँखें (उपन्यास), १९३२
१४. जीवन की झाँकियाँ-दिल्ली के वे स्मरणीय बीस दिन (संस्मरण), १९३५
१५. पंडित जवाहरलाल नेहरू (जीवन चरित्र), १९३६
१६. जमींदार (उपन्यास), १९३६
१७. सरला की भाभी (उपन्यास), १९४४
१८. सम्राट रघु (जीवन चरित्र), १९४४
१९. जीवन की झाँकियाँ – मैं चिकित्सा के चक्रव्यूह से कैसे निकला (संस्मरण)
२०. स्वतंत्र भारत की रूपरेखा (राजनीति), १९४५
२१. जीदन संग्राम (राजनीति), १९४५
२२. सरला (उपन्यास), १९४५

२३. जीवन की झाँकियाँ—मेरे नौकरशाही जेल के अनुभव (संस्मरण), १९४७
२४. आत्म बलिदान (उपन्यास), १९४८
२५. हमारे कर्मयोगी राष्ट्रपति (जीवनी), १९५२
२६. स्वराज्य और चरित्र निर्माण, १९५२
२७. रघुवंश (साहित्य), १९५४
२८. किरातार्जुनीयम् (साहित्य), १९५५
२९. ईशोपनिषद् भाष्य (भारतीय संस्कृति), १९५५
३०. भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय (इतिहास), १९५६
३१. आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति (विविध), १९५६
३२. मेरे पिता : संस्मरण (संस्मरण), १९५७
३३. भारतीय संस्कृति का प्रवाह (धार्मिक), १९५८
३४. मैं इनका ऋणी हूँ (संस्मरण), १९५९
३५. भारत के स्वाधीनता संग्राम का इतिहास, १९६१
३६. लोकमान्य तिलक (जीवनी), १९६३
३७. भारतेतिह्यम् (अपूर्ण) (संस्कृत काव्य), १९६३
भारतीय इतिहास, १९६३
३८. मेरे पत्रकारिता सम्बन्धी अनुभव, १९६०
३९. आत्म चरित (आत्मकथा) अप्रकाशित
४०. आर्य समाज का इतिहास (इतिहास) **(प्रथम भाग)**
४१. आर्य समाज का इतिहास (इतिहास) **(द्वितीय भाग)**
४२. आर्य समाज का इतिहास (इतिहास) **(तृतीय भाग)**
४३. जीवन ज्योति (जीवनी)
४४. काव्य कुसुमांजलि (संस्कृत कविताएँ) (साहित्य) अप्राप्य
४५. यतीन्द्रनाथ दास का जीवन चरित (जीवनी)
४६. बालोपयोगी वैदिक धर्म की पुस्तक (धार्मिक)
४७. गुलाम कादिर (उपन्यास) अप्राप्य
४८. वैदिक देवता (धार्मिक)
४९. कांग्रेस का इतिहास (इतिहास)